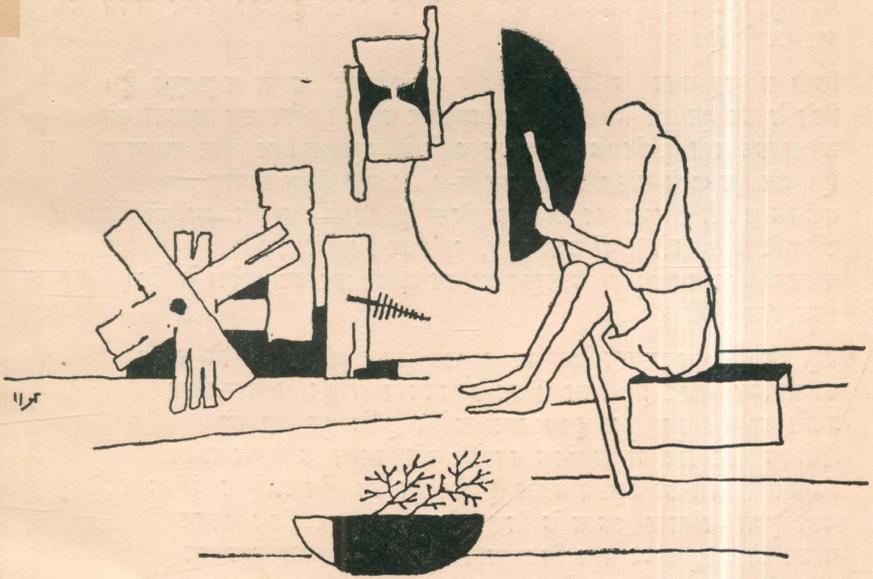


तीर्थकर



No - 057655
Lo - 43.15

धन - चुनौती (५)

पता नहीं क्यों आम लोगों की यह धारणा बन गयी है कि धन के बिना कुछ हो ही नहीं सकता। नामालूम किस दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में धन को वह सत्ता और सम्मान मिल गया जो उसे न मिल कर मनुष्य को मिलना था। जिसने धन की बलशाली बनाया, बदकिस्मती से वही कमजोर पड़ गया। यदि हम ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि धन स्वयं में कुछ भी नहीं है। उसे जो शक्ति मिली है, वह हारने दी है। यदि हम एक बार 'मूषको भव' कह दें तो उसे अपनी हैसियत तुरन्त समझ में आ सकती है।

किसी का यह कथन कि 'धन स्वयं में बहुत निर्धन है' काफी महत्वपूर्ण है। जिसे ले कर हम खुद को सातवें आसमान पर पाते हैं और उन आदर्शों की उपेक्षा कर जाते हैं, जिनके कारण हम मनुज हैं, वह क्षणमंगुर और नाशवान् है। यदि हम अपने सांस्कृतिक विकास में-से इस सचाई को निचोड़ सकें कि असली प्रतिष्ठा उन लोगों को मिली है, जिन्होंने या तो धन को दरियादिली से दोनों हाथों उलीचा है, या फिर जिन्होंने उसकी चंचलता और क्षणमंगुरता के रहस्य को समझ कर उसे सदा-सर्वदा के लिए तिलांजलि दे दी है।

यहाँ हम एक ऐसे प्रस्थान-बिन्दु पर आ खड़े होते हैं जो मनुष्य की प्रगति का सर्वोच्च शिखर है। असल में धन-के-निधन-में ही हमारी वास्तविक प्रगति का मर्म छुआ हुआ है। हमारा कर्तव्य है कि हम धन को द्वितीयक और ज्ञान को प्राथमिक बनायें। यदि खयाल करेंगे तो पायेंगे कि धन से चित्त की गहराई घटती है और हम उन ऊँचाइयों से वंचित रह जाते हैं जो व्यक्तित्व-विकास के लिए अनिवार्य हैं। धन, जिसे अक्सर साधन की जगह साध्य मान लिया जाता है, विकृतियों का अड्डा बन जाता है। इस मामूली सचाई को समझ लेना जरूरी है कि धन सीढ़ी है, मंजिल नहीं है। असल में मंजिलें द्वन्द्व-मुक्ति है। जब हमारे मन के सारे द्वन्द्व शान्त या शिथिल पड़ जाते हैं और हम निर्विकल्प चित्त से अपने भीतर विस्तृत रोशनी में नहाने लगते हैं तब हमें समझ पड़ता है कि जिस धन को हमने सर्वस्व मान लिया था, वह कितना बौता है। धन सांसारिक वैभव की खरीद-फरोख्त भले ही कर ले; किन्तु वह मन का सुकून नहीं खरीद सकता। जो स्वयं अशान्त और अस्थिर है, वह भला शान्ति और शाश्वति का माध्यम कैसे बन सकता है?

वास्तव में धन की हैसियत बहुत छोटी है। वह दीखता बड़ा है; किन्तु कद उसका बहुत छोटा है।

जब हम दुनियादारी-के-दुर्ग में प्रवेश करते हैं और तमाम हालातों की समीक्षा करते हैं तब सहज ही यह निष्कर्ष हमारी आँखों के सामने आ

सिद्धिचार

विचार-मासिक

सिद्धिचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

वर्ष १८; अंक ७; नवम्बर १९८८
कार्तिक वि. स. २०४५; बी. नि. सं. २५१५

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध-संपादक : प्रेमचन्द जैन
चित्र-संपादक : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : तीन रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

कहाँ / क्या

चुनौतियाँ/धन-चुनौती (५)

—प्रलयंकर आव. २

‘मैं’

—संपादकीय ३

वह अब केवल देखता है (‘अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर’ के पाँचवें अत्रकाशित/अपरिपूर्ण खण्ड का तृतीय अध्याय)

—वीरेन्द्रकुमार जैन ७

भगवान् महावीर की जन्मस्थली क्षत्रियकुण्ड (संस्मरण)

—श्रीमती राजकुमारी बेगानी १५

समय है मेरा अस्तित्व (कविता)

—मुनि रूपचन्द्र १९

‘मैं’ की दौड़ जारी है

—प्रवीणचन्द्र छाबड़ा २१

टिप्पणियाँ (३४-३६)

१. जैन बनाम जैनतर : अच्छे कौन

—डॉ. अनिलकुमार जैन ३४

२. क्या खायें/क्या न खायें ?

—प्रतापचन्द्र जैन ३५

पाठशालाएँ खोलिये ! (झाँकिये गरेबाँ में)

—प्रलयंकर ३७

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) ३९

पत्र-पत्रांश ४१

समाचार-परिशिष्ट ४५

गहराई ज्यों-की-त्यों आव. ४

आवरण-चित्र/‘चरखा चलता नहीं, चरखा हुआ पुराना’/महाकवि भूधर की पद-पंक्ति/
संतोष जड़ियाँ

‘मैं’

कुछ दिनों से एक शिशु से संपर्क बना हुआ है। शैशव में लौटने का इससे बढ़िया कोई उपाय नहीं है। वह अक्सर एक शब्द का प्रयोग करता है। उसे व्याकरण का कोई ज्ञान नहीं है। वह ‘मेरा’ की जगह ‘मैं-का’ बोलता है। उसे ‘का’ या ‘रा’ से कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन है स्वामित्व-प्रदर्शन से। उसमें स्वामित्व का अंकुर धीरे-धीरे ऊपर की ओर सर तान रहा है। जब यह अंकुर पूरी मजबूती से ‘मैं-का’ से ‘मे-रा’ हो जाएगा, वह दुनियादारी में पूरी तरह डूब जाएगा। अभी उसके इस ‘मैं-का’ में ‘तुम-का’ और ‘वह-का’ के लिए दरार है; किन्तु जैसे-जैसे वह अपने हलक के नीचे दुनिया और दुनियादारी को उतारेगा, उसका ‘मैं-का’ प्रगाढ़ ‘मे-रा’ में बदल जाएगा।

‘मैं’ तो ठीक है; किन्तु उसके साथ जो ‘का’ और ‘रा’ जुड़ता है, वह स्वाभाविकता को उघड़ने/उघाड़ने में अड़चन खड़ी करता है। संबन्ध-तत्त्व के मूल में बसा ‘मैं’ बैठा-बैठा कई गठि और उलझने पैदा करता है। ‘का’ और ‘रा’ रिश्ते के द्योतक हैं। ज्यादातर लोगों का रिश्ता मेरा (मैं के समूह) से होता है। मैं क्रैद है। इससे बोधि (ज्ञान) आच्छादित होती है और हम वहाँ पहुँचने से चूक जाते हैं, जो हमारा असली ठिकाना है। इससे गन्तव्य धुँधला पड़ जाता है और कई भ्रामक पड़ाव सामने आ जाते हैं। ये इतने आक्रमक और विषंभर होते हैं कि इनसे खुद को बचा पाना मुश्किल होता है।

धर्म एक ऐसी कला है जो ‘मैं’ पर लगाम डालती है और उसे सिर नहीं उठाने देती। जो लोग धर्ममय होते दीखते हैं, किन्तु जिनका ‘मैं’ फन उठाये बना रहता है, वे अन्ततः धोखा खाते हैं और धर्म की निर्मलता को धूमिल और अपकीर्तित करते हैं। आज धर्म-के-इलाके में ज्यादातर ऐसे लोग हैं जो ‘मैं’ में क्रैद हैं और लोगों को ‘मैं’ में न होने का झाँसा दे रहे हैं।

यदि हम ‘मैं’ से बाहर कूदना चाहते हैं तो हमें ‘अहंकार’ और तेजी से क्रदम उठा रहे ‘ममकार’ को छोड़ना होगा। ‘मैं-मैं’ करने या करते रहने से तो कोई बात बनेगी नहीं, बात बनेगी तब जब हम ‘मैं’ के कारावास से छूट कर बाहर छलाँग मारेंगे और इस दुनिया के प्राणिमात्र को आत्मवत्ता की भुजाओं में समेट लेने का अपूर्व पुरुषार्थ करेंगे। अहंकार जब तक स्वाधीनता का बोध कराता है, तब तक तो ठीक है; किन्तु जैसे ही वह अन्यों को हीन और छोटा समझने लगता है और उन्हें पराधीन करने की डींग मारने लगता है तब वह एक डिस्टर्बन्स (बाधा) होता है और पूरे ढाँचे को अस्वच्छ करता है।

अहंकार की काट है आकिंचन्य। स्वयं को दूसरों के हित में अपित-विसर्जित कर देना — अहंता को इस तरह कुछ विस्तृत कर देना कि वह लोकालोक को अपनी उदार बाहुओं में समेट ले और करुणा में अभिषिक्त हो कर प्राणिमात्र को ही नहीं,

परमाणु-मात्र की सत्ता को प्रणाम करे । यह एक उदात्त स्थिति है, जिसे पाना कठिन भले ही हो, असंभव नहीं है । हाँ, वे लोग जो क्षुद्रताओं में बँध कर अभि-नन्दनों और सम्मानों के पींजरों में खुद को डाले रहते हैं—वे न तो स्वयं को कुछ दे पाते हैं और न ही समाज को । आँख पसारने पर ज्यादातर लोग ऐसे ही हैं, जो 'मैं' और 'मैं-का' के पींजरे की गिरफ्त में हैं । ऐसे लोगों को जब तक निजता का बोध नहीं होता, किसी मंगल के घटित होने की संभावना शकल नहीं लेती ।

कुछ लोग मम-ता और निज-ता को एक मान बैठते हैं । 'ता' समुदायवाची प्रत्यय है । 'मम' के समूह का नाम 'ममता' है, ठीक ऐसे जैसे 'जन' के समूह को 'जनता' कहा जाता है । इसी तरह निज के समूह का नाम निजता हुआ । अन्य शब्दों में निज की सघनता निजता है । 'निजता' और 'ममता' में गहन फर्क है । 'मम' की परिधि संकीर्ण है, 'निज' की उदार । निज में अहंकार और क्षुद्रता का भाव नहीं है, मम में है । निज राजमार्ग है, मम संकरी गली है । 'अपना' और 'अपन' तथा 'मेरा' और 'मम' के बीच स्पष्ट भेदरेखा है । निजता स्वाभाविकता की ओर जाने वाली डगर है और ममता विभाव की ओर । एक में सत्य की प्रत्यक्षता है और एक में मिथ्या की नग्नता; इसलिए दोनों के अन्तर को ध्यान में रख कर ही हमें अपना लक्ष्य निश्चित करना-चाहिये ।

दूसरी ओर जब हम 'मैं' की समीक्षा—उसके डिस्सेक्शन—की ओर आते हैं, तब बहुत सारे रहस्य खुल जाते हैं । एक तो हम कभी ऐसा होने नहीं देते कि मैं-की-खोल-में-से एक पल को भी बाहर आ कर निष्कलुषता के दर्शन करें, दूसरे हमारे इर्दगिर्द तंगदिली का कुछ ऐसा घेरा बना होता है कि हम एक पल या पलांश को भी खोल से अपनी गर्दन बाहर निकाल पायें । महाकवि दौलत की यह पद-पंक्ति बड़ी सार्थक है कि 'हम तो कबहुँ न निज घर आये' । मेरे घर तो आये हैं, निज या अपने घर नहीं आ पाये हैं । अपने घर और मेरे घर में आसमान-प्राताल जितना अन्तर है । मेरे में 'बहुत-सारे-मेरे' उसे सघन रूप में जकड़े हुए हैं; निजता में ऐसा कोई घेरा नहीं है । गौर करें : मम पराधीनता की ओर ले जाने वाला है और निज स्वाधीनता की ओर । निज और निजता में उलट-पलट कहीं 'जिन' और 'जिनता' आसीन है; किन्तु मम में इतनी खोट है कि वह उलट-पलट कर भी अपरिवर्तित है । वह इधर या उधर कहीं से भी मम है । मम-के-इस-तम-में-से बाहर निकालने वाली यदि कोई शक्ति है तो वह धर्म है ।

धर्म का अर्थ हम प्रायः भूले होते हैं । हम समझते हैं कि क्रियाकाण्ड ही धर्म है । वैसा नहीं है । क्रियाकाण्ड कलई है; किन्तु जिस बर्तन पर वह है—उस मूल बर्तन को हम देख नहीं पा रहे हैं । कलई आकर्षक होती है; किन्तु जब खुलती है तब सारी कमज़ोरियों और खामियों पर से पर्दा उठ जाता है । अधिकतर लोग कलई को अन्तिम मान कर मूल को मुट्ठी में-से खिसक जाने देते हैं । क्रियाकाण्डों में यह धोखा संभव है; किन्तु अव्यात्म-पर जिस धर्म का पाया है, वह धोखा नहीं है; उसका मार्ग सीधा और साफ-सुथरा है, निष्कपट है; इसलिए जैनदर्शन के उस सूत्र-सार को समझना ज़रूरी है जो कहता है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है ।

धर्म अलग से कुछ नहीं है। सूरज और उसकी घूप दो अलग अस्तित्व नहीं हैं। अग्नि और अग्नित्व दो पृथक् स्थितियाँ नहीं हैं, मनुज और मनुजता भी दो अलग अवस्थाएँ नहीं हैं—वे अभिन्न हैं; अतः हम जानें कि जैनधर्म का जोर वस्तु-स्वरूप पर है। धर्म वस्तु-स्वरूप की खोज का अनुष्ठान है, न कि अन्धविश्वासों में तड़पने-कराहने का; इसलिए हमें क्रियाकाण्ड को उसकी अस्मिता में सीमित कर देना चाहिये और सिर्फ प्राथमिक पृष्ठभूमि की तैयारी में ही उसका उपयोग करना चाहिये। हम लगातार आगे बढ़ते दीखे इस तरह कुछ कि क्रियाकाण्ड हमसे पीछे छूट जाए, हमारा पीछा न कर सके। जब हम किसी वस्तु या क्रिया का पीछा करते हैं, तब यह ध्यान रखना जरूरी है कि अपनी बारी आने पर वही वस्तु, स्थिति, या व्यक्ति हमारा पीछा भी कर सकता है; इसलिए हमें धर्म के सही अर्थ पर अँगुली रख कर ममता-के-पीजरे से मुक्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिये और निजता-की-उन्मुक्तता में थिरकना चाहिये।

जीवन में ऐसी सैकड़ों स्थितियाँ हैं, जो यथोचित नियन्त्रण के अभाव में अनुकूल होने की जगह प्रतिकूल बन बैठती हैं। सारा खेल नियमन (हैंडलिंग) या उन पर उपयुक्त शासन का है। जब हम परिस्थितियों के नियमन में विफल होते हैं, तब मैं अपना फन उठाता है और निज पर हमला करता है। मैं झूठा हो कर भी सच-जैसा दिखायी पड़ता है और निज सच हो कर भी अ-सच-जैसा प्रतीत होता है। सार्थक नियमन के अभाव में हमें कई दुष्परिणाम भोगने होते हैं। नियमन की सम्स्क कला हमें धर्म में-से प्राप्त हो सकती है। धर्म 'मैं' के नियमन और अनुसंधान के अलावा और कुछ नहीं है। यदि धर्म में-से सम्यक्त्व-बोध प्रकट नहीं होता और हम वैसा न हो पाने के कारण स्वयं पर नियन्त्रण नहीं पाते तो मानना चाहिये कि हमारे नियमन और अनुसंधान में कहीं कोई खोट या कोताही रह गयी है। धर्म, वस्तुतः, आत्मानुसंधान की एक धारावाहिक प्रक्रिया है। होता प्रायः यह है कि हम इस प्रक्रिया में सातत्य बनाये रखने में विफल रहते हैं और अन्ततः अपने लक्ष्य पर पहुँच पाने में असमर्थ रहते हैं।

'मैं' को समझने में प्रायः हमारी भूल हो जाती है। जब-जब हम इसे समझने में भूल करते हैं; तब-तब हमारी खोज लँगड़ा जाती है। खोज की यह लँगड़ाहट हमारी लड़ाई को विकलांग करती है और हम अपने सहज खोज-संघर्ष में मैदान हार जाते हैं। असल में हमें कौशिश करनी होगी कि हम 'मैं' को हस्तक्षेप न बनने दें बल्कि उसे एक सहयोगी की शकल में इस तरह संजोयें कि वह उत्तरोत्तर निर्वस्त्र/निष्कपट हो कर निज में प्रवर्तित/परिवर्तित हो जाए।

'मैं' को हम रिझायें नहीं बल्कि बुझायें। उसकी कशिश को शिथिल करें। यहाँ बुझाने से आशय है उसकी आँच को मंदा करें और उसमें-से निजता की शुभ्रता प्रकट होने दें। 'मैं' को हम व्यर्थ की प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनायें बल्कि उसे सामायिक में रूपान्तरित करें। उसमें समत्व को शंकृत करें ताकि उसकी परिधि चौड़ी हो और वह निजता को पाने में हमारी मदद कर सके। □

**वीरेन्द्रकुमार जैन के पन्द्रह सौ पृष्ठ-व्यापी
महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर'
के पाँचवें अप्रकाशित खण्ड का तीसरा अध्याय
'वह अब केवल देखता है'**

महाउपन्यासिक वीरेन्द्रकुमार जैन से मिलना और बतियाना ठीक ऐसा ही है । जैसे एक बहती नदी और एक अजस्र प्रवाह में बढ़मान प्रपात से भेट । नदी बह रही है और उससे कहा जा रहा है कि रुको । दो पल संवाद में आओ और नदी कहती है मेरा बहना ही मेरा संवाद है । मेरे पास गति के अलावा कोई शब्द नहीं है ।

२७ नवम्बर को सबरे 'गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड, विले पारले (पश्चिम), बम्बई' की पहली मंजिल पर वीरेन्द्र भाई को पाना और एक अत्यन्त आत्मीय लहजे में मिलना स्वयं में अविस्मरणीय है । वही फक्कीरी, वही फाकामस्ती, वही राजसी ठाठवाट । चौहत्तर वर्ष के वीरेन्द्र भाई से जब 'अनुत्तर योगी' के पाँचवें खण्ड पर बात चली तब बोले—'अब क्या लिखूँ' । जो लिखना था वह लिखा लिया महावीर ने । पाँचवें खण्ड के पाँच अध्याय अगस्त १९८२ में इन्दौर भेजे थे । वहीं पड़े हैं । अब तो जो जरूरी होता है लिखता हूँ । वंसा लिखना अब नहीं होता । पढ़ना होता है । बांग्ला साहित्य पढ़ता हूँ । हिन्दी में अब वह सब कहाँ है जो बांग्ला में पूरी रवानी के साथ आ रहा है । जैनेन्द्र मृत्युशैया पर हैं । जैनेन्द्र में—से बने अज्ञेय दिवंगत हुए हैं । हिन्दी को असल में एक नया आयाम मिलना चाहिये ।

मैंने कहा—'भाई, पाँचवाँ खण्ड तो किसी तरह पूरा करो ।' बोले—'गालिब का शेर सुनो : 'गो हाथ में जुबिश नहीं आँखों में तो दम है ; रहने दो अभी सागर-ओ-मीना मेरे आगे ।' गो हाथ हिल नहीं सकते पर आँखों में दम है । छू नहीं सकते पर देख सकते हैं । गालिब के इस सर्वश्रेष्ठ शेर में मैं वीरेन्द्र भाई के इधर के वर्षों को प्रतिबिम्बित देखता रहा ।

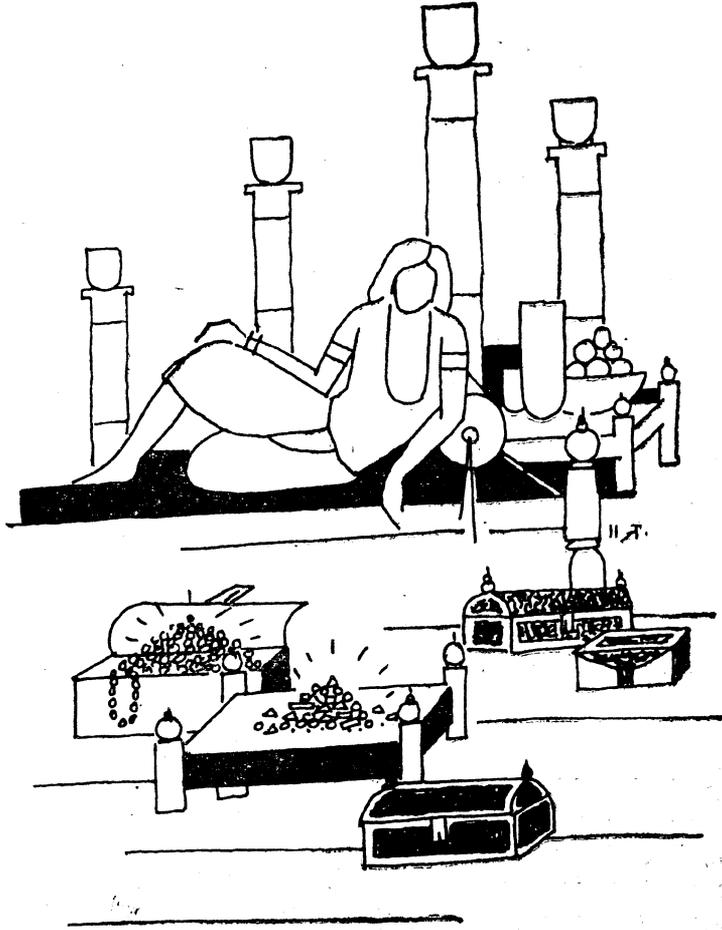
वीरेन्द्र दा के मुँह में दाँत नहीं है ; किन्तु चेहरे पर दमक बरकरार है—एक अपूर्व वैश्विक दीप्ति । एक अकम्प युवा विद्रोह ।

बोले—'सुनो । ठाकुर साहब आ गये हैं । शेव्ह करा लेता हूँ ।' तख्त पर से कुर्सी पर आये और गोरखनाथ ने शेव्हिंग शुरू की । लगा जैसे गोरखजी में भी वीरेन्द्र छन कर उतर आये हैं । गोरख रोज़ आते हैं और वीरेन्द्र भाई की शेव्ह करते हैं । गोरख बोलते कम हैं ; किन्तु जब बोलते हैं, महत्वपूर्ण बोलते हैं । बोले—'नेपाल में पारसनाथ का मंदिर है । बड़ा चमत्कारी है साब ।' वीरेन्द्र भाई ने कहा—'यार यदि पारसनाथ वहाँ हैं तो जैनों को उनकी खबर लेनी चाहिये ।' गोरख दत्तचित्त दाढ़ी बनाते रहे और मैं अपलक देखता रहा । इन दिनों हाथ काँपने के कारण वीरेन्द्र भाई गोरख से दाढ़ी बनवाते हैं (पर साथ ही इसलिए नहीं कि हाथ काँपते हैं बल्कि इसलिए कि उनके जीने का एक अलग अन्दाज़ है) ।



मैं बातें करता रहा और विश्वास उनके चित्र लेता रहा। ज्यों-ज्यों मैं बीरेन भाई को देखता त्यों-त्यों उनमें-से स्फटिक-सा कुछ छन कर आता जाता। मुझे लगा जिस आदमी ने चार-पाँच वर्षों में गंगा-जैसे चौड़े पाट वाले महावीर को अपनी क्लम में समेट लिया वही मेरे सामने है और कहीं कोई याद नहीं है उसकी। एक अक्षर-सम्राट्, जिसने किसी अक्षरातीत को सब की चेतना में जीवन्तता से परोसा उसकी फ्लेटिग्नम जयन्ती मनाना तो दूर, उसे ले कर दिगम्बर/श्वेताम्बर-जैसी तंगदिल और छोटी चर्चा होती है। मुझे लगा कि यदि अहिंसा और सत्य दिगम्बर अहिंसा और श्वेताम्बर अहिंसा/दिगम्बर सत्य और श्वेताम्बर सत्य जैसे संबोधन पा सकते हैं तो ही 'अनुत्तर योगी' को दिगम्बर या श्वेताम्बर खेमे में डालने की हिम्मत कोई कर सकता है वरना 'वैशाली के विद्रोही राजपुत्र', 'असिधारा-पथ का पथिक', 'तीर्थकर का धर्म-चक्र प्रवर्तन', और 'अनन्त पुरुष की महा जययात्रा' (क्रमशः १९७४, १९७५, १९७५ और १९८१ में संपन्न) महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तरयोगी' का न तो आज कोई सानी है और न आगामी कल कोई होगा।

लोजिये, पढ़िये इसी बहुचर्चित उपन्यास के पाँचवें खण्ड का तृतीय अध्याय बीरेन भाई के ताज्जा चित्र और संतोष जड़िया के अनुभूति-समृद्ध चित्रांकण के साथ—



कई तरह के बहुरंगी रत्नों की ढेरियाँ उसके सामने चौकी पर लगी रहती हैं । कई बहुमूल्य मणियों की मंजूषाएँ खुली पड़ी रहती हैं । उनके रंग और उनकी दीप्तियाँ सहसा किरणों में फूट कर कहने लगती हैं । देखते-देखते सारे रत्न तरल द्रव्य हो कर, वातावरण में विचित्र चित्रकारी करने लगते हैं । उस चित्रकारी से बेशुमार दुनियाएँ जीती-जागती खुलती जाती हैं । देखते-देखते मोती समुद्र हो जाता, है, और समुद्र मोती बन कर चौकी पर आ पड़ता है । (पृष्ठ-१२)

वह अब केवल देखता है

... महाशतक की जीवन-धारा अब दूसरे ही चैतन्य प्रदेश में बहने लगी है। अब वह केवल देखता है। मानो कि उसे अब कुछ करना नहीं है, केवल देखते ही चले जाना है। वह अब कोई नहीं है, और कुछ करता ही नहीं है। उसका सारा शरीर केवल आँखें हो गया : केवल दृष्टि।

फिर भी वह यथानियम सारे कर्तव्य करता है। फिर भी कुछ करता नहीं, केवल किसी अन्य को, सब कुछ ठीक-ठीक करते देखता है। देखता है, और जानता है। देखना और जानना ही उसका एक मात्र जीवन रह गया है। क्रिया-कलाप सब सम्यक् भावेन अपने-आप होता रहता है। वह स्वयम् भी कुछ होने की चेष्टा नहीं करता, मात्र होता रहता है। और होते हुए अपने को देखता रहता है। ... और उसके भीतर अकारण आनन्द की लहरें उठती रहती हैं।

... उसके भीतर सामायिक आपोआप स्फुरित होता रहता है। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते वह सदा सामायिक-के-वसन्त में ही विहार करता रहता है। उसके जीवन का हर क्षण एक उत्सव हो गया है। ... किसी भी व्यक्ति या वस्तु को अपलक देखते-देखते, उसमें अनायास ही सम्बेदन और ज्ञान तरंगित होते रहते हैं। उसमें स्फुरित होता है 'सम्' और 'अय्'। सम् है स्थिति, अय् है गति। यही समय है। इस समय में स्थिति और गति एक साथ विद्यमान हैं। अस्तित्व मात्र समय है। गति मात्र समय है। पदार्थ मात्र समय है। आत्मा मात्र समय है। काल मात्र समय है। अस्ति भी समय है आविः भी समय है। होना भी समय है, न होना भी समय है। उदय भी समय है, प्रलय भी समय है। दृष्टा भी समय है, दृश्य भी समय है, दर्शन भी समय है। सो समय में अभाव है ही नहीं। केवल सद्भाव है। होना और न-होना का भेद वहाँ है ही नहीं। जीवन और मृत्यु का भेद वहाँ है ही नहीं। हर सत्ता समय है, हर पदार्थ समय है, हर आत्मा समय है। हर चेहरा समय है, हर रूप समय है, हर भाव समय है। और इस संचेतना में हर समय रहना ही सामायिक है। सृष्टि स्वयम् एक समग्र महासमय है। और अपने निज रूप में वह सदा सामायिक में लीन है। हम सब केवल अपने में अपने ही लिए जीते हैं। हर पदार्थ अपने में, अपने ही लिए विद्यमान है। और यों अपने में अपने लिए रह कर ही, वे सब स्वतः सर्व हो जाते हैं, और सर्व में अपने ही आत्म को अनुभूत करते हैं।

... महाशतक केवल अनुपल देखता ही रहता है। और जिस भी चीज को वह एकाग्र, एकटक देखता है, तो देखते-देखते वह चीज स्वयम् बोध हो जाती है,

ज्ञान हो जाती है, रोशनी हो जाती है। वह देखता ही चला जाता है, और देखते-देखते मूर्त अमूर्त हो जाता है, और अमूर्त मूर्त हो जाता है। एक नीली रोशनी सदा उसकी आँखों में छायी रहती है। और सारा दृश्य चराचर जगत् उस नीलिमा में हर क्षण नया और तरुण होता दिखायी पड़ता है। उसे लगता है कि पदार्थ-मात्र ज्ञान है, जगत् मात्र ज्ञान है। जो भी कुछ कहीं भी गोचर या अगोचर है, वह सब ज्ञान है।

वह अपने महल की अटारी पर खड़ा हो कर, दूर-पास के सारे जगत् को एक विहंगम निगाह से देखता रह जाता है। दूर-दूर की अंजनी पर्वत-श्रेणियाँ एकाएक उसे डाक देती हैं। और वह मानो अगले ही क्षण उनके शृंगों पर चलने लगता है। उसकी चट्टानें पर्वत-दर-पर्वत कमल-दलों की तरह खुलती हुई, उसे अपने अन्तःपुरों में खींच ले जाती हैं। अपने उद्गम योनिमूल तक उसे खींच कर निश्चल कर देती हैं। उन पर्वतों की अगम्य, अचीन्ही गोपनतम गुफाएँ उसके सम्मुख आद्या योनि की तरह खुल कर निवेदित हो जाती हैं। उसे अपने अगोचर रहस्य-कक्षों में ले जाती हैं, जहाँ देव, गन्धर्व, विद्याधर युगल सदा काम-केल में लीन रहते हैं। अपने उस चरम गोपन-मूल में ले जाती हैं—जहाँ योगी और योगिनियाँ, सिद्ध और सिद्धांगनाएँ काल से परे नित्य मैथुन की महासमाधि में डूबे हुए हैं। लेकिन वह तो कहीं गया नहीं, केवल अपनी अटारी पर निश्चल खड़ा, अपलक आँखों-मात्र देख रहा है।

यात्राओं में वह नदी देखता है, तो वह नदी उसकी नाड़ियों में बहने लगती है। जहाज पर दिन में दूर-दूर के लोकालय दिखायी पड़ते हैं, कितने ही भवन, अटारियाँ, वातायन। सब में जाने कितने सारे चेहरे, जो अपने ही लगते हैं। जाने कितने जन्मों के नाते, आत्मीयताएँ स्फुरती हैं, और खो जाती हैं—यात्रित समुद्र की तरंगों में। रातों में दूर-दूर पर दीखते दीये। नगरियाँ। उनके दीपालोकित घर, कमरे, नर-नारी। और वहाँ के हर कक्ष में उसकी मिलन-शैया बिछ जाती है।

पेड़-पालों, पशुपंखी, वनमालाएँ, फूलों और फलों के उद्यान, भयावने निर्जन अरण्य, निचाट रेगिस्तान। देखते-देखते वे सब अनायास उसे अपने अणु-परमाणु में रम्माण कर लेते हैं। चन्द्र उत्फुल्ल फूल को देखता है, तो उसकी पंखुरी का रेशा-रेशा कोमल से कोमलतर होता हुआ, उसे छुहलाने लगता है। फूटती कोंपल को देख, उसकी बरौनियों में जाने कैसी एक बेमालूम छुवन स्पन्दित हो उठती है। भरे-पूरे पेड़ को देखते-देखते, वह उसके शाखा-पल्लव में खेलता हुआ, उसके मूल में उतर कर, उसका बीज-मात्र हो रहता है। देखते-देखते पेड़ बीज हो जाता है, बीज पेड़ हो जाता है। पंखी पल्लव हो जाता है, पल्लव पंखी हो जाता है। फूल तितली

हो जाता है, तितली फूल हो जाती है। अजब है यह देखने का जादू। केवल देखने मात्र से, दृष्टि मात्र से; चीजें परस्पर रूप बदल लेती हैं, रूपान्तरित हो जाती हैं। शून्य में निश्चल निष्कम्प देखते-देखते, मानो सत्ता फुरित हो उठती है; नाना रूप, रंग, नाम की सृष्टि आविर्भूत होती दीखती है। अजब है सम्यक् दर्शन, और सम्यक् ज्ञान की यह पारस-मणि। वह आँखों से नहीं, आत्मा से देखता है। प्रतिक्रिया-रहित मात्र देखना। देखना ही रचना है। देखना ही होना है। देखना ही त्रिकाल है, त्रिलोक है। देखना ही यह अपार जगत्-माया है। देखना है कि दिक्काल है, सत्ता है, तत्त्व है, अस्तित्व है। 'सम्' में स्थिर हो कर 'अय्' को निरन्तर धारावत देखते जाना ही सामायिक है। वही अपने को और अपने समय को सम्पूर्णता में जीना है।

*

*

*

महाशतक अब कहीं से भी विशेष नहीं रहा। निर्विशेष, सम और समान हो गया है। वह सर्वसाधारण हो गया है, और वास्तविक जीने को पूरी तरह जीने लगा है। वह ठीक पृथ्वी पर आ गया है, और उसकी ठोसता को निश्चल भाव से महसूस करता है। वह हर पिण्ड के पिण्डत्व को गहरी गाढ़ता और तन्मयता से अनुभूत करता है। हर पदार्थ-पिण्ड को पूर्णता में जीते हुए, वह स्वयम् सहसा ही समग्र पृथ्वी हो उठता है। हर पदार्थ उसके सामने आते ही, निरा शुद्ध द्रव्य हो जाता है। हर चीज में वह निपट द्रव्य-बोध ही करता है। द्रव्य की ध्रुवता और प्रवाहिता को वह हर क्षण एकाग्र जीता और भोगता है। पदार्थों को देखते-देखते, जीते-जीते, वह उनके परमाणु-कक्षों में चला जाता है।

वह घट में स्थिर भी है, और पट के सपाट पर भी चल रहा है, चल रहा है और जी रहा है। घट के भीतर भी अन्तरिक्ष है, बाहर भी अन्तरिक्ष है। सहसा ही घट विसर्जित हो जाता है, और अन्तरिक्ष ही अन्तरिक्ष अपरम्पार फैला दीखता है। हर वस्तु के भीतर के अन्तरिक्ष में तैरते हुए ही, वह उस धरती की ठोस जिन्दगी को, सम्पूर्ण ठोसता के साथ जीता है।

हर चीज में अब वह रस लेता है, रुचि-बोध करता है। हर चीज में उसका मन एकाग्र लग जाता है। मसलन अब वह अपना व्यापार-व्यवसाय भी देखने लगा है। रत्नों के व्यापार में ही उसकी अधिक रुचि है। उसे लगता है कि रत्न में भूगोल और खगोल मिलते हैं, एकत्रित होते हैं। भीतरी सूझ से ही, रत्न-परीक्षा में वह आपोआप निपुण हो गया है। वह रत्न को हथेली पर रख कर उसे कवि या कलाकार की तरह देखता है। उसके प्रति पहलू, कोण, अणु-अणु में वैद्यक सौन्दर्य-दृष्टि जैसे यात्रा-सी करती है। जाने कैसे स्वप्निल रत्नों के महल, उनके मीना-खचित कक्ष, जाने कितने द्वीप-समुद्रों की यात्राएँ — उस रत्न में स्वतः स्फुरित होती

हैं। मानो कि वह केवल रत्न नहीं, पूरा ब्रह्माण्ड है। कई तरह के बहुरंगी रत्नों की ढेरियाँ उसके सामने चौकी पर लगी रहती हैं। कई महामूल्य मणियों की मंजूषाएँ खुली पड़ी रहती हैं। उनके रंग और उनकी दीप्तियाँ सहसा किरणों में फूट कर बहने लगती हैं। देखते-देखते सारे रत्न तरल द्रव्य हो कर, वातावरण में विचित्र चित्रकारी करने लगते हैं। उस चित्रकारी में बेशुमार दुनियाएँ जीती-जागती खुलती चली जाती हैं। देखते-देखते मोती समुद्र हो जाता है, और समुद्र मोती बन कर चौकी पर आ पड़ता है।

इन्द्रियों के हर विषय में उसकी रुचि बहुत गहरी हो गयी है। रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श का उसका सम्बेदन पहले से बहुत अधिक प्रगाढ़ और सतेज हो गया है। हर विषय को भोगते-भोगते वह स्वयम् विषय हो जाता है। और हर विषय आपोआप ही विषयी हो जाता है। दृष्टा स्वयम् ही दृश्य और दर्शन हो जाता है। ज्ञाता स्वयम् ही ज्ञेय और ज्ञान हो जाता है। भोक्ता स्वयम् ही भोग्य और भोगानन्द हो जाता है। स्पर्शी स्वयम् ही स्पृश्य और स्पर्शन हो जाता है। भोजन में, वसन में, गन्ध-धारण में, श्रृंगार में—सर्व में वह केवल अपने स्वाधीन शुद्ध आत्म-रस का ही बोध करता है। उसकी हर क्रिया, हर रुचि, उसका हर सम्बेदन, हर भोग निरा ज्ञानानन्द हो गया है। और इसी कारण यह सारा जीवन-जगत् उसके लिए एक निरन्तर आनन्द का उत्सव हो गया है।

जीवन के प्रति वह अब विमुख नहीं, अधिक उन्मुख हुआ है। उसमें कोई विधि-निषेध का द्वन्द्व है ही नहीं। उसमें कोई सोच-विचार नहीं, कोई तर्क-वितर्क नहीं, कोई प्रश्न नहीं। जो सामने आता है, उसे सहज ही अपना लेता है। अपने पूरे मन को उसमें रमा कर विसर्जित कर देता है। और फिर मनातीत आनन्द की अजस्र धारा में उसके साथ खुल कर तैरता है। देखना, बोलना, करना, जीना सब उसके लिए निरा ज्ञान हो गया है। और बोध की उस रोशनी में बाधा को अवकाश ही कहाँ है। वह स्वयम् ही भोजन, वसन, गन्ध, माला, शैया, सुन्दरी, सुरा हो जाता है तो ये सब बाहर कहाँ छूटेंगे।

अपने अन्तःपुर की पुकार उसमें हर समय बनी रहती है। मानो कि स्त्रियों के उस अन्तःपुर के छोर पर ही आत्मा की परा सुन्दरी का अन्तःपुर-द्वार खुलता है। वह क्रमशः हर रात अपनी बारह वधुओं के शयन-कक्ष में जाता है। हर एक के साथ पूरी रात बिताता है। उसे लगता है कि उसकी हर रात सोहागरात की फूल-शैया हो गयी है।

शैया में वधू के आमने-सामने बैठ कर, वह उसे एकटक देखता रह जाता है। और उसे लगता है कि उसके चेहरे और उसकी भंगिमा में हर क्षण कोई अपूर्व

नया लावण्य और सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। उसकी परम प्रिया वधू हर क्षण नयी और ताजा हो रही है। चार आँखें अपलक परस्पर को निहारती, दो हो जाती हैं, फिर एक हो जाती हैं। एक मात्र चितवन आप ही अपने को देख रही। शरीर तक दो नहीं रह जाते, केवल एक शरीर रह जाता है, आप ही अपने में रमण करता हुआ। और फिर वह एक शरीर भी तरल द्रव्य में प्रवाहित हो कर, चेतना की एक सूक्ष्म तरंग-मात्र हो रहता है। पता ही नहीं चलता कि स्पर्शन हुआ है या नहीं, आलिंगन-चुम्बन हुआ है या नहीं। लेकिन तन्मात्रा और चिन्मात्रा में अवरल स्पर्श-सुख ज्वारित होता है, चुम्बनों और आलिंगनों की झड़ियाँ लग जाती हैं। सम्भोग और समाधि का भेद समाप्त हो जाता है। सम्भोग ही समाधि हो जाता है, समाधि ही सम्भोग हो जाती है। प्राण, मन, इन्द्रियाँ सब आत्म में लीन हो जाती हैं। इन्द्रियाँ नहीं भोगतीं, केवल आत्म, आत्म को भोगता है। इसके इस पारिवार में स्पर्श हुआ तो क्या, नहीं हुआ तो क्या : कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्पर्शक ही जब स्पर्श्य और स्पर्शनन्द हो जाता है, तब कौन किसे छुए, कौन किसे पकड़े, कौन किसे आलिंगन-चुम्बन करे।

और महाशतक की हर वधू को लगता है, कि उसके प्रीतम ने उसमें चरम तक भोग-रमण किया है। सवेरे वह जैसे गन्ध-पराग से छलाछल भरे कमल-सी जाग कर उत्फुल्ल हो उठती है, और अपने स्वामी के चरणों में निवेदित हो जाती है। उसे लगता है कि वह फिर से कुँवारी हो गयी है : और उसके देवता सदा कुँवारे हैं। वे सदा कुँवारे हैं, और उनकी हर रात एक नयी सोहागरात है।

और यथाक्रम महाशतक अपनी नयी-नवेली रेवती के अन्तःपुर में भी एक रात बिताता है। लेकिन यहाँ देखने से काम न चलेगा। श्रैया पर चढ़ते ही गुत्थम-गुत्था होना पड़ेगा। रूप और यौवन के अथाह मांसल दरिये में गोते लगाने होंगे। रेवती की वासना का अन्त नहीं, तो महाशतक की वासना उससे भी अनन्त गुनी अनन्त है। वह जब रेवती को देखता है तो उसकी आँखों में वही एक स्वप्न रहता है—हनुषह द्वीप की अटारी के वातायन पर कंधी करती एक उद्भिन्न यौवना बाला। कमनीयता की वह कटीली कमान, वह अपरूप भंगिमा, जिसने उसे मोह लिया था। जिसके सौन्दर्य में उसे मृत्यु का उत्तर मिला था। जिसे देखते ही उसे मृत्यु व्यर्थ होती लगी थी। अपनी आँखों में उसी अमृता भंगिमा का अंजन आँजे, वह रेवती को देखता है। रेवती के बलात्कारी आलिंगनों और विप्लवी सम्भोगों में भी, महाशतक केवल उस प्रथम दृष्टि के स्वप्न में ही तैरता रहता है।

नग्न और विपुल मांसल यौवन के उस तूफानी समुद्र में गोते लगाते हुए महाशतक उसी स्वप्न-नारी को उसके तलातल में खोजता चला जाता है। वह रेवती

की देह के पौर-पौर, पत-पत को बीधता हुआ, उसके हर रक्ताणु में जैसे वह उस सन्ध्या की बाल सँवारती कन्या को शिल्पित करता चला जाता है। सहस्रफनी वासना के इस भुजंगम गुंजल्क में हर दंश के साथ वह अधिक समाधिस्थ होता जाता है। महाशतक जैसे एक निश्चल मेरु से, रेवती की उदाम उछलती योनि को बाँध देता है। रेवती उसे नोच-नोच लेती है। यह वह कैसे सहे कि उसकी वासना के तूफान को कोई अपनी आँखों से बाँध दे, चिमटी से मसल कर व्यर्थ कर दे, उस पर सवार हो कर अपनी जाँघों के बीच उसे शून्य और निस्पन्द कर दे।

वह मदिरा-पर-मदिरा के प्याले ढालती हुई, महाशतक के अंग-अंग और नस-नस को झँझोड़ती थी। मगर महाशतक मानो एक अचल महालिंग हो रहता था, जिस पर महाकाल भुजंगम अपना फन फटकारते-फटकारते थक कर ठलक पड़ जाता था, उसके सारे विष को कोई नीलकण्ठ गटागट पी कर पचा जाता था।

... सवरे नशे में मदहोश रेवती धरती पर शव की तरह ढेर हो रहती। और महाशतक उसे हीले से पुचकार कर, उस पर सप्रित करुणा की दृष्टि डालता हुआ चुपचाप वहाँ से चला जाता।

... जागने पर रेवती भयंकर क्रोध से पागल हो जाती। उसकी वासना का ऐसा अपमान? उसका ऐसा क्रूर मर्दन, भंजन और स्तम्भन? यह मुझे भोगता नहीं, भोगते हुए भी मुझे कीलित करता है। अपने वेधन और कीलन से यह मेरे शरीर को धूल-माटी कर देता है। मेरे सौन्दर्य और यौवन को निःशेष पी कर यह उसे व्यर्थ कर देता है, वमन कर देता है।

... अच्छी बात है, अब मेरी बारी है। अब मैं इसे वशीभूत और कीलित करूँगी, और फिर एकान्त अधिकार के साथ इसे मनमाना भोगूँगी। अपने बाद की हर स्त्री को मैं मिटा दूँगी, ताकि यह पुरुष केवल मेरी भुजाओं का बन्दी हो कर रहे। सावधान महाशतक, अब तक तुमने मुझे नाथा, अब मैं तुम्हें नाथूँगी। मैं तुम्हें अपनी योनि में सम्पूर्ण खींच कर, अपनी रग-रग में रमा कर रखूँगी। देख, फिर तुम मुझ से बच कर नहीं जा सकते हो।

... लेकिन महाशतक को नहीं मालूम, उसने क्या किया है? वह अब कुछ करता नहीं। केवल देखता है। □

भगवान् महावीर की जन्म-स्थली क्षत्रियकुण्ड

राजकुमारी बेगानी

पुण्योदय का एक सुरम्य प्रभात । हम मुंगेर जिले के एक छोटे से ग्राम लछवाड़ में जो कि भगवान् महावीर की जन्म-भूमि — क्षत्रिय कुण्ड की तलहटी में बसा है पर्वधिराज पर्व पर्युषण मनाने पहुँचते हैं; क्योंकि खरतरगच्छाचार्य श्री पूज्यजी श्री जिनचन्द्रसूरिजी इस वर्ष साधना के लिए अपना चातुर्मास वहीं सम्पन्न कर रहे हैं । दिल्ली एक्सप्रेस से हम जमुई उतरे हैं और वहाँ से जीप द्वारा रवाना हुए हैं लछवाड़ की ओर । भारतीय गाँवों की वही ऊबड़-खाबड़ गड्ढों-भरी सड़क, किन्तु चारों ओर प्राकृतिक सुषमा से भरपूर । हरी-हरी वनस्पतियों का तृणों का विपुल संभार । दूर क्षितिज पर सीमा बनाती, धुंधियाती-सी श्वेत शृंखलाएँ । कभी-कभार दिख जाता था कोई श्यामल देहाती । तभी अचानक दिख पड़ा पुरातत्व के प्रतीक-सा प्रकृति के धानी आँचल में छिपा-छिपा-सा जिनालय का उच्च शिखर । अपनी संस्कृति के उस ध्वज ने हृदय को आलोडित कर दिया शीघ्र ही वहाँ पहुँचने को; परन्तु सम्मुख ही विस्तृत थी एक नदी जो कह रही थी पद-प्रक्षालन कर प्रवेश करो ।

ऐसा अनुमान है कि शायद इस बीसवीं सदी में पङ्कजी बार करीबन सौ श्रावक-श्राविकाओं के एक छोटे-से संघ ने पर्युषण मनाने का साहस किया है । जगस्त ८८ को महाराज श्री क्षत्रिय कुण्ड से उतर कर पधारे हैं लछवाड़ के महावीर चैत्य के चारों ओर बनी शान्त-सी धर्मशाला में । गाजे-बाजे के साथ मंगल-गीतों से गुंजित वातावरण में अपनी ढोलकों को लम्बे-लम्बे मयूर-पंखों से सजाये बुभुल हर्ष की ताल में नृत्य करते ग्रामीणों की भाव-भक्ति के मध्य सुहागिनों ने अक्षत की गेहुँली पर श्रीफल चढ़ा कर महाराजश्री का शुभ्र पदार्पण करवाया । श्रमण भगवान् महावीर की च्यवन, जन्म और दीक्षा-कल्याण की पावन भूमि, गुरु का सान्निध्य और महापर्व लगा जैसे हम त्रिवेणी के संगम अध्यात्म के महाप्रयागराज में स्नान कर रहे हों ।

दूसरे ही दिन ब्रह्म बेला में टेप पर बजती महामन्त्र णमोकार की महाध्वनि ने हमें जागृत कर दिया प्रमाद छोड़ कर अपनी-अपनी धार्मिक दिनचर्या में जुट जाने को । हमारी रूटिन बन चुकी थी—सुबह पाँच बजे सामूहिक साम्नायिक में 'भक्तामरस्तोत्र' का सस्वर पाठ, फिर प्रतिक्रमण, पूजा, अर्चना, स्नान एवं व्याख्यान, सायं प्रतिक्रमण और रात्रि में भजन । बीच-बीच में अवकाश था खाने-पीने, नहाने, सोने एवं विश्राम का । धर्मशील श्रावक-श्राविकाओं ने इसी में जोड़ रखा था शौषध बेला अट्टाई आदि महान् तपस्याओं का सिलसिला । लगा : जैसे हम किसी

आश्रम में हैं जहाँ धार्मिक शिविर लगाया गया है और हम एक धर्माचार्य के नियन्त्रण में पर्वाराधना कर रहे हैं। हमारे साथ ही थे सम्मेशिखर के नव-निर्वाचित ट्रस्टी रतनलालजी डंगरिया, श्रेणिकजी सिंधी, उन्हीं के महा उल्लास में खान-पान आवास-बिजली, पानी सब कुछ व्यवस्थित था।

महाराजश्री अपनी धीर-गंभीर, मधुर वाणी में 'कल्पसूत्र' का वाचन करते और सभी अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार उसे ग्रहण करते। वस्तुतः सब कुछ निर्भर है मनुष्य के अपने संस्कारों की शुद्धि पर, अपनी पात्रता पर। अन्य सब कुछ तो होता है मात्र निमित्त। आत्म-शुद्धि और परिणामों-की-निर्मलता कौन-सा निमित्त पा कर कब किसे कहाँ पहुँचाये नहीं कहा जा सकता। किसी ज्ञानी ने कहा है -

जिन प्रतिमा आकार जलचर छे बहुजलधि मञ्जार ।

ते देखी बहुला मत्स्यादिक पाम्या विरति प्रकार ।

आज हमारे चारों ओर एक ही शोर है फलाँ साधु आचार-भ्रष्ट है, फलाँ शास्त्र झूठा है, फलाँ पण्डित चरित्रहीन हैं, और हम यह मानने पर भी बाध्य हैं कि इसमें सत्यांश ही अधिक है। भगवान् महावीर की वाणी जो कि एक विशाल हिम-चट्टान थी काल के दुर्दृष्ट थपेड़ों से गलते-गलते वह भी अंजुलि-भर जल-सी रह गयी है और हमें ग्रहण करना है इसी में-से; उस दूषित भूमि पर गिरे द्रवित जल में-से नहीं जिसमें समय की आँधी ने न जाने क्या-क्या मिश्रित कर डाला है। अवलम्बन लेना है जिनवाणी का और उसी जिनवाणी के अनुसार कषायों को अपने ही पुरुषार्थ से क्षीण कर आत्मा को निर्मल बना लेना है। निर्मलता के इसी स्वच्छ जल में हम देख पायेंगे स्व-स्वरूप को भीतर के सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान को। इसी आधार पर बढ़ पायेंगे अध्यात्म के दुरूह पथ पर अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए। अवश्य ही इसमें सहायक होगी जिन-प्रतिमा, महातीर्थ गुरु, महापर्व; किन्तु हृदय में धधकती ईर्ष्या एवं कषायों की अग्नि से धुँधलाती आँखों से तो न हम सत्य को पकड़ पायेंगे न आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ पायेंगे। बस केवल परदोष देखते हुए चिल्लाते ही रह जाएंगे हमें क्या करना है यह भूल कर। बहुत आसान है परदोष देखना और बहुत-बहुत कठिन है स्व-दोषों का निरीक्षण। जब बैठते हैं निरीक्षण करने तो कबीर की यह वाणी मूर्तिमन्त सत्य की भाँति सम्मुख आ खड़ी होती है कि 'बुरा जो देखने मैं चला ... मुझ-सा बुरा न कोय।'

अमावस्या की रात्रि में ऊँची-ऊँची बोलियों एवं भाव-भजन के मध्य चौदह महास्वप्न जो कि माता त्रिशला ने देखे थे उतारे गये और दूसरे दिन ही एक सुसज्जित विशाल पण्डाल में मनाया गया महावीर-जन्मोत्सव जिसका प्रारम्भ हुआ

था मधुर-कण्ठ से गाये गये सुन्दर मंगलाचरण से । जमुई एवं सिकन्दरा से पधारे विशिष्ट अतिथियों में डॉ. भगवानदास केशरी ने भगवान् महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला एवं के.के. कॉलेज, जमुई के रीडर डॉ. श्यामानन्द प्रसाद ने ओजस्वी एवं धारा-प्रवाह भाषण में अपने दीर्घ शोधजन्य अनुभवों को अतीव सुन्दर शैली में प्रस्तुत कर यह प्रतिपादित किया कि भगवान् महावीर की जन्म-भूमि क्षत्रिय कुण्ड ही है, वैशाली नहीं । महाराजश्री ने अपने प्रवचन में कहा — हमारा महावीर जन्मोत्सव मनाना तभी सार्थक होगा जब हम अपने भीतर सोये महावीर को जन्म देंगे ।

बेचारे ग्रामीण अपने ग्राम में हुए इन प्रथम, किन्तु सुन्दर कार्यक्रमों को स्तब्ध देख रहे थे । कार्यक्रम-की-समाप्ति पर सभी को मंगल रूप मोदक की प्रभावना बाँटी गयी ।

समाप्ति हुई हमारी पर्वाराधना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चौरासी लाख योनियों को खमाते हुए स्व-कृत पापों की आलोचना करते हुए महावीर के जयनादों के साथ । पारना करना तय हुआ क्षत्रिय कुण्ड पर्वत पर पहुँच कर ।

बड़ी भयंकर गर्मी थी पर्युषण के समय; किन्तु दूसरे ही दिन लगा जैसे पाप-परिताप की शान्ति के साथ ही शान्त हो गया प्रकृति का ताप भी । ऊषा के स्वस्तिकर आगमन के साथ ही हम रवाना हुए हैं क्षत्रियकुण्ड की ओर । आकाश में बिजली चमकने लगी है, बादल घुमड़ने लगे हैं एवं पर्वतारोहण प्रारम्भ हुआ है । सूर्योदय के साथ-साथ काले-काले मेघ-खण्डों को चीर कर आता हुआ प्रकाश वैसा ही अलौकिक आनन्द दे रहा जैसा कि कभी-कभी कर्मों की कालिमा को चीर कर आत्मारन्ध्रों से आने वाला अध्यात्म-प्रकाश देता है । कितना खूबसूरत है क्षत्रिय कुण्ड । अशोक, वकुल, पलाश आदि विभिन्न जातियों के विभिन्न वृक्षों, लताओं एवं गुल्मों के घने कुंज जिनके मौन में भी थी एक आन्तरिक साँय-साँय ! कल-कल करती प्रवाहित थीं मधुर, निर्मल जल से भरीं स्रोतस्विनियाँ । उसी निर्मलता में निहार रहे थे अपना स्वरूप कूलों पर खड़े नग्न-अर्द्धनग्न पर्ण-रहित वृक्ष ।

तभी आता है माहणकुण्ड (ब्राह्मकुण्ड) । कितना कर्णप्रिय एवं चिर परिचित है यह शब्द । न जाने किस जन्म की किस मार्मिक व्यथा से उद्वेलित हो कर रो पड़ा मन । लगा जैसे देवानन्दा के गर्भापहरण की हृदय-विदारक व्यथा से आज भी बोझिल है वहाँ का वातावरण । वेदनापूरित नारी-हृदय की धड़कनों को सम्यक् रूपेण जानने वाले महावीर की मौन वाणी जैसे वहाँ के कण-कण में व्याप्त है और कह रही है — माँ, विवश-सा मैं जा रहा हूँ समृद्धि के राज्य महल में शुभ कर्मों को भोग कर समाप्त करने के लिए । दुःख मत करना माँ । जब इस शुभ-अशुभ

से परे हो कर मैं आत्म-लक्ष्मी से सम्पन्न बनूंगा तब तुझे अवश्य लाभान्वित करूँगा । श्वेताम्बर शास्त्रों में आता है कि भगवान् की कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् देवानन्दा ब्राह्मणी और ऋषभदत्त ब्राह्मण उनकी धर्म-सभा में पहुँचते हैं । महावीर को देखते ही देवानन्दा का आँचल वात्सल्य रस से भींग उठता है । उसके दोनों स्तनों से दूध प्रवाहित होने लगता है । गणधर गौतम प्रभु से इस विस्मय का कारण पूछते हैं । उनका प्रत्युत्तर है: 'इन्द्र भूति, यह मेरी माँ है' । वे दोनों ही महावीर से दीक्षित होते हैं और उसी भव में मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ।

अब हम पहुँचते हैं महावीर के दीक्षा-स्थल पर । ओसकणों से भींगी वन-स्पतियाँ लगा आज भी रो रही हैं अपने राजकुमार लड्डमान का स्मरण कर । जो करोड़ों-करोड़ों की प्रभूत संपत्ति बाँट कर इस अंचल को दरिद्रता से रहित कर निकल पड़े थे महाभिनिष्क्रमण के लिए । न उन्होंने देते हुए जाति-पाँति का विचार किया था, न ऊँच-नीच का, न धर्म-सम्प्रदाय का । उन्हें तो मानव-मात्र का कल्याण करना था; अतः हर ज़रूरतमन्द को उसकी आवश्यकतानुसार दिया अपने कर्तव्य-बोध पर ।

अन्ततः वह स्थल भी आया जहाँ महावीर ने जन्म लिया था । चारों ओर फैली थी गुलाब के पुष्पों की भीनी सुवास । एक विशाल श्वेत परकोटे के मध्य स्थित है महावीर जिनालय । उसमें स्थित काले पाषाण की उस मनोरम प्रतिमा के दर्शन करते ही देह रोमांचित हो गया; मन हार गया किसी महान् शिल्पी की उस भव्य दृष्टि पर । पाल युग की शैली में निर्मित है यह प्रतिमा कहते हैं यह करीबन बारह सौ वर्ष पुरानी है । सभी ने अनन्य भक्ति-भाव से पूजन दर्शन-आरती कर सार्थक किया अमूल्य क्षण को ।

तत्पश्चात् प्रारम्भ हुआ पारने-का-कार्यक्रम । अठाई तपस्या शुभोपलक्ष्य में जीमन हुआ, प्रभावनाएँ बाँटी गयीं संघ की ओर से । श्री पूज्यजी महाराज एवं सभी तपस्वियों का बहुमान किया गया । कलकत्ता की जैन महिला समिति एवं जैन स्वाध्याय महिला-मण्डल की ओर से पहाड़ पर बसे शत-शत ग्रामीणों को जिनकी स्थिति गरीबी की रेखा से भी नीचे है—वस्त्र, चादरें वितरित की गयीं; किन्तु कहाँ पर्याप्त हो पाता है इतना-सा । आज भी वह अंचल इन्तज़ार में है किसी राजकुमार वर्द्धमान के जो उनके पूरे दारिद्र्य को समाप्त कर उत्प्रेरित कर दे धर्म-दिशा की ओर ।

लौटने का समय भी आ गया । थोड़ी देर पूर्व ही हो चुकी थी मूसलाधार वर्षा । सब कुछ था भीगा-भीगा । ग्रामीण थे प्रसन्न । डोली वाले चले डोलियों में, पद-यात्री पैदल । पर कुछ दूर भी नहीं उतरे कि विस्मय से अवाक् रह गये । जो निर्मलमना स्रोतस्विनियाँ अपनी अतीव सुषमा से मन को आनन्द-विभोर किये थीं वे ही उमड़ती-बहराती, दूषित बनीं अब पथ रोके खड़ी थीं । इतनी-सी देर में इतना परिवर्तन !

आकाश था मेघाच्छादित । पथ था आकण्ठ जलमग्न और रकना भी था असम्भव; अतः पंच-परमेष्ठि का स्मरण करते हुए उस आकण्ठ-भरे एक नहीं छह नालों को पार किया पानी के भीतर से गुज़र कर । पानी के साथ ही गहराती जा रही थी हमारी आस्था भी । जिस नाम-स्मरण ने इन गहरे उलटी दिशा में खींच ले जाने वाले उदण्ड नालों को पार करवाया वह अवश्य ही पार करेगा इस भवसागर से भी ।

एक था दुबला-पतला-सा कुत्ता । चढ़ते समय भी हर यात्री के साथ रहा, कभी चढ़ कर, कभी उतर कर; किन्तु महाविस्मय ! वह नालों को पार करते समय भी हमारे साथ ही रहा । गहरे-जल में डूबता-उतराता यात्रियों के किनारे पहुँचाने के पश्चात् पुनः लौट आता दूसरे यात्रियों का साथ देने । सोच कर भी नहीं सोच पायी उस पशु के इस निश्छल प्यार-भरे व्यवहार को । लगा हम मानव-देह में भी पशुता लिये हैं और यह पशु-देह में भी मानवता लिये है ।

आखिर लछवाड़ पहुँचे और दूसरे दिन ही रवाना हुए कलकत्ता की ओर मन के न चाहते हुए भी । □□

समय है मेरा अस्तित्व

जब से चलता आ रहा है समय
ठीक तब से
मैं भी हूँ एक यात्रा पर ।
न आज तक समय थका है,
न थका हूँ मैं ।
न आज तक समय रुका है,
न रुका हूँ मैं ।
चट्टानों-तूफानों-रेगिस्तानों के समक्ष
न आज तक समय झुका है,
न झुका हूँ मैं ।

फिर भी
जब तुम कहते हो—
'समय है बलवान,
समय ही है महान्

तब लगता है मुझे
नहीं है तुम्हें मेरा सही ज्ञान
जब-जब जिया है मैंने कालजयी क्षणों को
समय ने पायी है
मुझसे अपनी शाश्वत पहचान ।
मिला है मुझसे ही
उसे अपने अस्तित्व का अभिज्ञान ।
समय है मेरा अस्तित्व,
मैं हूँ उसका व्यक्तित्व ।

जब दोनों अलग हैं ही नहीं
फिर कैसे करोगे अलग पहचान ?
और कैसे तय करोगे तुम—
कौन है बलवान,
कौन है महान् ?

—मुनि रूपचन्द्र

‘तीर्थंकर’ के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

१. मुनिश्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
२. श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
३. मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४. आचार्य श्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८; अप्राप्य)	३०.००
५. साध्वीश्री विचक्षणश्री (फर.-मार्च, ७८; अप्राप्य)	३०.००
६. पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७. गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८. जैन पत्र-पत्रिकाएँ (अग.-सित., ७७)	२०.००
९. वीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०. णमोकार मन्त्र खण्ड-१ (नव.-दिस., ८०)	१५.००
११. णमोकार मन्त्र खण्ड-२ (जनवरी, ८१)	१५.००
(णमोकार के दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	३५.००
१२. भक्तामर स्तोत्र (जनवरी, ८२)	२१.००
१३. जैन भूगोल (अगस्त, ८२; अप्राप्य)	३०.००
१४. श्रीमहावीर-तीर्थ (नवम्बर, ८२)	१०.००
१५. जैन ध्यान/जैन योग (अप्रैल, ८३)	१५.००
१६. समाज-सेवा (नव. दिस., ८३)	१५.००
१७. प्रतिक्रमण-सामायिक (अक्टू.-नव. ८४)	२०.००
१८. प्रतिक्रमण शेषांक (दिसम्बर, ८४)	५.००
१९. सामायिक शेषांक (जनवरी, ८५)	५.००
२०. श्रावकाचार-विशेषांक (मार्च-अप्रैल, ८५)	१५.००
२१. आहार-अंक (जून-जुलाई, ८५)	६.००
२२. पूजा-विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८५)	१०.००
२३. जैन जैविकी विशेषांक (फरवरी-मार्च, ८६)	१०.००
२४. उपवास-अंक (मई, ८६)	४.००
२५. जैन भौतिकी विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८६)	१०.००
२६. टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक (फरवरी-अप्रैल, ८७)	१५.००
२७. आचार्य लघुविशेषांक (जुलाई-अगस्त, ८७)	५.००
२८. साधुमार्ग (विशेषांक (सित. अक्टू., ८७)	१५.००

विशेषांकों के संपूर्ण सेट का मूल्य सजिल्द फाइलों के साथ रु. ४५०.००; सजिल्द फाइलों के बगैर रु. ३००.०० □ रजिस्ट्री चार्ज एक विशेषांक पर रु. ५/-, अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १/-०० □ वी.पी.पी. नहीं की जाएगी □ अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट ‘तीर्थंकर’ के नाम से भेजिये।

प्रबन्ध सम्पादक, तीर्थंकर; ६५, पत्रकार कालोनी, इन्दौर-४५२००१; (म.प्र.)

‘में’ की दौड़ जारी है

कोई भी लहर अपनी परिधि में फँस कर भी केन्द्र से अलग नहीं होती। तरंग भी उठने के साथ गिरने और वापस उठने को होती है। हर स्थल पर होने वाला यह कम्पन एक स्थिति में रहने नहीं देता। जन्म के साथ लगा मरण स्वप्नों के स्वर्ण-जगत् का विकल्प बनाये रहता है। इसी से लोक के सारे कार्य-व्यवहार अपनी लंका को स्वर्णमयी बना लेने की सफलता माने रहते हैं। लंका का जलना और धुआँ उठना, देखने में नहीं आता है। हम अपने सोये मन की तृष्णा में हिरण्यकश्यप बनने की वासना लिये रहते हैं।

—प्रवीणचन्द्र छाबड़ा

मृत्यु क्या है, कैसी है, इसे निज में घटित होते किसी ने देखा नहीं है। अनुभव में लिया नहीं है। इसका बोध होता भी है, तो वह अन्य में घटित होते बेष कर ही होता है। अन्य के साथ होने वाली घटना देख कर भी अनदेखी हुई रहती है। अन्तर के आकाश पर राग और मोह के बादल इस तरह छाये रहते हैं कि अपने भीतर झाँकना होता नहीं है।

मृत्यु निमित्त ले कर आती है। कारणों का निराकरण करते हुए वह सारी शक्तियों को इस तरह समेट लेती है कि कहने और करने को कुछ रह नहीं जाता है। वह अपने में दोष नहीं लेती। मोहजन्य बुद्धि आधार खोजती रहती है। अपने आपको उन कारणों से अलग कर मृत्यु को नहीं, उसके बहाने देखती है। वह मृत्यु को झुटलाने का उपक्रम किये रहती है। मृत्यु बहाना नहीं है, अन्त हो कर अनन्त शून्य है। शून्यता इतनी सघन होती है कि मृत्यु का साक्षात्कार करना, बोध करना होता नहीं है। चेतना सुप्त, या लुप्त हो जाती है। निद्रा गंभीर हो कर चिर हो जाती है। सन्नाटा केवल सन्नाटा रह जाता है।

मृत्यु चिरनिद्रा है। निद्रा किस तरह आती है, इसकी मीमांसा नहीं हुई है। निद्रा आती है और देह उसके अधीन हो कर निढाल हो जाती है। निद्रा भी आहार, भय एवं मैथुन की तरह की एक वृत्ति है; जो सब जीवों में समान रूप से है। चिरनिद्रा, अपनी वृत्ति में इतनी संज्ञा-हीन हो जारी है कि देह के असंख्यात जीवाणुओं को गतिहीन कर शिथिल कर देती है। समय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश के लिए होने वाली यह शिथिलता जीवाणुओं को सक्रिय नहीं होने देती। देह भार हो जाती है, चिरनिद्रा में निमग्न हो कर चेतना से विरत हो जाती है। अन्तर का आकाश प्रकट हो कर बाहर आ जाता है। बाहर-भीतर एक हो जाता है। अन्तर का आकाश देखने में आता नहीं है। निद्रा का कम्पन, स्पन्दन, जागरण चिरनिद्रा में रहता नहीं है।

निद्रा स्वयं सम्मोहन है, वासना है। निद्रा में सदसद् दोनों प्रकार के संस्कार एवं प्रवृत्तियाँ रहती हैं। इसी से स्वप्न भी सब प्रकार के होते हैं। स्वप्नों का यह

झरना नित्य हो कर संसार रचता रहता है। स्वप्नों का उद्गम मन होता है, जो स्वयं आकाश है। स्वप्न भी आकाश की तरह विराट् हुए रहते हैं। दमित इच्छाएँ, वासना और आकांक्षाएँ स्वप्नों में रूपायित हुई रहती हैं। गंभीर निद्रा में यह सब नहीं होता। इसका सुख ही यह है कि स्वप्नों का प्रवाह अन्तर्लीन हुआ रहता है, दृष्टिगत नहीं होता, स्मरण में नहीं आता। गंभीर निद्रा के बाद चित्त प्रसन्न, निराकुल और निरामय होता है। देह भी अधिक चैतन्य तथा उल्लसित होती है।

चिरनिद्रा महा स्वप्नमयी होती है। स्वप्नों का संसार इतना सघन होता है कि अन्तर का आकाश ही स्वप्नमय हो कर चेतना को ढँक लेता है। देह भी स्वप्नों की अनन्त वासना में इतनी निहाल हो जाती है कि स्वयं स्वप्नरत हो कर संस्कार-शून्य हो जाती है। निद्रा में रहने वाला राग चिरनिद्रा की अक्षय धारा में खो जाता है। देह अनन्त के लिए हो कर स्वयं अन्तर के अमृत के लिए हो जाती है। स्वप्नों का विलास और नृत्य मात्र स्पन्दन हो कर अतीत हो जाता है। स्वप्नों के झरने का खो जाना ही संसार से संबन्ध टूट जाना है।

चिरनिद्रा में समस्त आकर्षण स्वप्न, ग्रन्थियाँ, सम्पर्क-सूत्र आदि छूट जाते हैं। सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मौन हो जाती हैं। चेतना का आकाश व्यापक हो कर अनन्त में विलीन हो जाता है। देह भी कामना और वासना-शून्य हो कर 'मैं' की परिधि से मुक्त हो जाती है। देह का निश्चेष्ट हो जाना बताता है कि आनन्द की तरंगों इस तीव्र गति से प्रवाहित होती हैं कि देह अपनी क्रिया-शक्ति का भान नहीं रख पाती है। चिरनिद्रा महाकम्पन है, आनन्द का स्थायी भाव है। चिरनिद्रा विलय है, जहाँ केवल विराट् शून्य है। निद्रा और गंभीर निद्रा की सीमाएँ, सपने तथा जागरण सब कुछ खो जाते हैं। वाणी, मन और उससे जुड़े सभी प्रकार के कर्म मौन हो जाते हैं। यह मौन देह को साध लेता है। देह शव हो कर भी पावन हो जाती है, आहूत हो जाती है।

चिरनिद्रा का आनन्द ऐसा महाकम्पन है, जिसे आज तक कोई व्यक्त कर नहीं सका है। आनन्द अनुभूत होता है, वह व्यक्त होता नहीं है। आनन्द आने के बाद जाता नहीं है। आनन्द के इस अतिशय का गोपन ही मृत्यु को अनजाना बनाये हुए है। यह रहस्य ऐसा है, जिसका कदाचित् उद्घाटन हो जाता है, मृत्यु का ही विलोप हो जाता है। मृत्यु नहीं रह जाती है तो जन्म होना भी स्थगित हो जाता है। मरण होता ही जन्म का है। जन्म अपने साथ जिस कम्पन को ले कर आता है, वे ही संस्कार हुए रहते हैं। हर पदार्थ अपने संस्कारों में कम्पायमान रहता है। जल की तरंगों दौड़ने के साथ भीतर-ही-भीतर काँपती रहती हैं। आग की लपटें धधकती हुई भी काँपती जाती हैं। यह कम्पन ही आविर्भाव है, यही तिरोभाव है। यही काल-चक्र है, सृष्टि और प्रलय है। यही सौन्दर्य है।

जन्म से मृत्यु की यात्रा, 'मैं' में डूबे रहने की यात्रा है। क्या, क्यों और कैसे का घेरा बना रहता है। 'मैं' अपने को केन्द्र बना कर अनन्त सृष्टियों की रचना किये रहता है। सृष्टि तथा प्रलय का यह क्रम अनवरत है, अनन्तकाल से चला आ रहा है। जन्म के साथ जिस देह में 'मैं' व्यक्त होता है, वही उसकी पहिचान होती जाती है। 'मैं' देह से और देह 'मैं' से व्यामोहित हुए रहते हैं। 'मैं' अपने पूर्व-संचित संस्कारों से अनुरंजित रहता है और उसी के अनुसार देह की रचना करता है। देह अपने स्वप्निल संसार की क्षुद्र सत्ता में स्वयमेव सृष्टि बनती जाती है। देह 'मैं' को ही जकड़ लेती है, चेतन को कामना और वासनामय बना कर पदार्थों के लिए किये देती है। अपने संकेतों पर नचाये रहती है। अपने अधीन करके भी स्वाधीन हुए रहने का आभास देती है। देह का यह कौशल ही यात्रा को रहस्यमय बनाये रहता है। मैं अपने लिए होने को स्पष्ट नहीं कर पाता है।

देह में 'मैं' की सत्ता इतनी जटिल होती है कि जन्म जहाँ सत्य और नित्य लगने लगता है, मृत्यु समूची सत्ता को ही असत्य एवं अनित्य किये देती है। 'मैं' मृत्यु का दृष्टा हो नहीं पाता है। देह तटस्थ होने नहीं देती, साक्षी बनने नहीं देती। अपनी हर यात्रा में 'मैं' ऊपरी तल पर ही भटकता रहता है। स्वप्न ही संस्कार और संस्कार ही स्वप्नों के लिए हो जाते हैं। शिशु अपनी लघु काया में सपने लिये आता है। स्वप्नों में मुसकराता है, रोता है। जन्मदात्री माँ को बहुत समय बाद पहिचानने लगता है। उसका प्रथम परिचय ही माँ से होता है। जो स्वयं उसके लिए सपने सँजोये रहती है। शिशु के स्वप्नों में निमग्न हुई थपथपी दिये रहती है, दुलार किये रहती है।

जन्म के साथ आने वाला सपनों का संसार शिशु को इतना मुदित किये रहता है कि वह अपने में ही खोया रहता है। शिशु से बालक हो कर अपने सपनों को खिलौनों में सार्थक किये रहता है। खिलौने ही उसका संसार हो जाते हैं। जिनके लिए रूठना, मान-मनावल करना, लड़ना-झगड़ना आचरण हो जाता है। खिलौनों में स्वामित्व का भाव इतना गहन होता है कि वह अपनी वृत्तियों को भी भूल जाता है। यह ऐसी भूल-भुलैयाँ है, जो बुद्धि-जन्य दीखती हुई भी संस्कार-गत होती है। इसके मूल में निहित अहम् इतना सूक्ष्म होता है कि वह बाह्य दृष्टि का विषय बन नहीं पाता है। बालक के लिए वह हर तरंग, खेल या खिलौना आकर्षण होता है, जहाँ उछल-कूद होती है, विस्मय होता है, बनना और मिटना होता है। इसी से वह मिट्टी के घरोंदे बनाता और मिटाता रहता है। यह सब उसका उल्लास होता है। बालक का यह आकर्षण अनायास नहीं है। शिशु का विलय हो कर बालक रूप में जिस तरह उदय होता है, वह उसे स्वप्नों और संस्कारों के वैषम्य

से निरपेक्ष होने नहीं देता। यह वैषम्य ही कर्म-भूमि में प्रवेश है। चित्त पर नये संस्कारों के अंकित होने का प्रारम्भ है।

मृत्यु नटराज का अनुपम विलास है। मन-मोहक ताण्डव महाकाल का विराट् स्पन्दन-कम्पन है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी व नक्षत्र-मण्डल-से ले कर अणु-पर्यन्त अपनी गति में परिक्रमामय हुए रहते हैं। एक पल का भी विराम, या विश्राम नहीं होता है। नृत्य की भाव-भंगिमा में-से जो निकल रहा होता है, उसी में लीन होता जाता है। सृष्टि में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ स्पन्द नहीं है। स्पन्द ही चेतन और जड़ पदार्थों को एक-दूसरे से तथा आपस में प्रभावित कर बाँधे रहता है। चेतन में सतोगुण तथा पदार्थों में तमोगुण की जहाँ प्रधानता होती है, वहाँ तमो और सतोगुण भी दोनों में रहते हैं। इसी से जीव चेतन हो कर भी जड़वत् हुआ रहता है। चेतन और जड़ का वैषम्य तथा आकर्षण ही सृष्टि को रहस्यमय बनाये रहता है। मैं अपने अहंकार में निरन्तर हों रहे विलय के सत्य-स्वरूप को ज्ञान में लेता नहीं है। वह शिशु से बालक और युवा होने को उदय तथा विकास का क्रम माने रहता है।

कोई भी लहर अपनी परिधि में विस्तृत हो कर भी केन्द्र से अलग नहीं होती। तरंग भी उठने के साथ गिरने और वापस उठने को होती है। हर स्थल पर होने वाला यह कम्पन एक स्थिति में रहने नहीं देता। जन्म के साथ लगा मरण स्वप्नों के स्वर्णम जगत् का विकल्प बनाये रहता है। इसी से लोक के सारे कर्म-व्यवहार अपनी लंका को स्वर्णमयी बना लेने को सफलता माने रहते हैं। लंका का जलना और धुआँ उठना, देखने में नहीं आता है। हम अपने सोये मन की तृष्णा में हिरण्यकश्यप बनने की वासना लिये रहते हैं। मानसिक जगत् का विलास नृ-सिंह बनने का सोच होने नहीं देता। मृत्यु में सभी प्रकार के कम्पन इस तरह एकत्र होते जाते हैं कि सारी सफलताएँ उपलब्धियाँ, स्वप्न-विलास सिमट कर रह जाते हैं। दुरन्त 'मैं' भी कम्पित हो जाता है। मृत्यु भय हो कर भयावनी होती जाती है। जो अभी 'हाँ' हो कर स्वयं सत्ता बना हुआ होता है, वही 'न' हो कर सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। देह के छूटने के साथ जग पराया हो जाता है।

'किसी को मत मारो' यह आर्ष सूत्र केवल विचारों में ही बना रहता है। सब में अपने को देखने, प्राणि-मात्र को अभय देने और उनसे मित्रता का बोध होता नहीं है। निद्रा की खुमारी में दमन, पीड़न, शोषण, प्रताड़ना उडेलित करती नहीं है। हम अपने से तलवार नहीं उठा कर भी तलवार की धार को अर्थवत्ता प्रदान किये रहते हैं। मृत्यु से भी लाभ उठाने, उत्तराधिकारी होने की वासना और कामना मृत्यु के पार जाने नहीं देती। पाप-पुण्य का गणित पदार्थों में शक्तिपात कर स्वामित्व के विस्तार और रक्त-पात को अपराध बनने नहीं देता। यही कारण है कि मरने और मारने की प्रवृत्ति छूटती नहीं है। मारक शस्त्र सत्ता बन कर उत्पात

किये रहते हैं। अहिंसा की चर्चा भी इसीलिए प्रिय होती है कि वह सुरक्षा-कवच होती है, अन्य को आक्रामक होने नहीं देती। ऐसी हिंसा अधिक जटिल और कुटिल होती है, जिसमें प्रत्यक्ष प्रहार या आक्रमण नहीं होता है, आवाज को ही खामोश कर दिया जाता है। दमित हिंसा अधिक क्रूर हो जाती है। हर वस्तु-केन्द्रित मानसिकता अधिक मूर्च्छित होती है, हिंसा-प्रतिहिंसा के विस्फोटों के लिए उत्तरदायी होती है। सब मिल मृत्यु के लिए हो जाते हैं।

‘मैं’ निज में जितना सम्पन्न होता है, अहिंसा उसके लिए आचार-विचार और व्यवहार होती है। वह किसी भी प्रकार की मौत के लिए होता नहीं है, होने भी नहीं देता। वह कायिक हिंसा से भी आगे मानसिक और वैचारिक हिंसा को भी अमान्य करता जाता है। राग, द्वेष, क्रोध आदि कषाय भी रह नहीं जाती हैं। हिंसा के लिए वही होता है, जो भयभीत होता है, कामना एवं वासनामय होता है, जो भीतर से खाली होता है। कोई भी सत्ता पीड़ा के लिए नहीं होती, वह सदैव पीड़क होती है। वह आक्रमण नहीं चाहती, आक्रामक होती है। जड़ पदार्थों की तरह ऐसा सैन्य दल तैयार करती है, जिनके लिए मौत भी कवायद हुई रहती है।

मरने की तैयारी किसी की नहीं होती। मारने वाला भी मरना नहीं चाहता। रणक्षेत्र में मृत्यु के आमने-सामने हो कर भी यही मानता रहता है कि वह सदैव विजयी है, उसे कोई मार नहीं सकता है। जो अपने रणकौशल पर आश्वस्त हुआ रहता है, वह मृत्यु के भय को प्रकट नहीं होने देता। उन्माद या प्रमाद इतना तीव्र हो जाता है कि वह चेतना को ही ढँक लेता है, देह को पूरी तरह जकड़ लेता है। भय ही भयावना हो कर कातर बना देता है, हिंसा के लिए प्रवृत्त किये देता है। कातरता ही श्रवण-के-ढेर-पर मोह-के-विलास का उल्लास मनाती है। मृत्यु का भय ही मारक शस्त्रों में त्राण एवं शक्ति देखने लगता है, हिंसक को त्राता और वीर मान लेता है। सत्ता का विस्तार और दासता के बन्धनों का प्रसार काम-दमित क्रूरता है, अहंकारमयी वृत्ति है। मृत्यु की स्मृति मन को परिष्कृत करती है, पवित्र करती है। वह राग-द्वेष से पार जाने का उपाय है।

मृत्यु कोई नहीं चाहता, यह कहना और मानना भी दम्भ है, छलावा है। भय और कातरता ही मृत्यु है, जो मनोभावों में सदैव रहती है। जिस पल, या घड़ी मृत्यु को आना होता है, वह समक्ष नहीं होता। यह छिपाव ही मृत्यु को काम्य नहीं होने देता। मृत्यु काम्य हो जाती है, तो देह का मोह ही टूट जाता है। ‘मैं’ की समस्त मनुहारें, परिवार, समाज और उसके सभी व्यवहार रह नहीं जाते हैं। मृत्यु का यह गोपन ही संसार बनाये हुए है। यह ऐसा कम्पन है, जो भय हो कर भी संबन्धों को सरस, सरल, सदय और सहज किये हुए हैं। मृत्यु की चाहना भी मोह-जन्म भय में दबी रहती है, मृत्यु से भागते रहते हैं।

देह स्वयं जीवन से अधिक मृत्यु की आकांक्षी होती है, मरणधर्मा होती है। वही मृत्यु की घोषणा करती है। 'मैं' मर गया, यह बोध ही देह कराती है और वही स्वाहा कर देने का आमन्त्रण देती है। देह और मैं का सारा कार्य-व्यवहार मरण के लिए होता है। देह उन सभी मनुहारों को भुला देती है, जो उसे सजाने, सँवारने को 'मैं' करता रहता है। देह का व्यवहार उन सबको भी वैसा ही कर देता है, जो देह के कारण जुड़े होते हैं। आत्मज ही कपाल-क्रिया को जाता है, देह को अग्नि भी वही देता है। देह के स्वाहा हो जाने के साथ श्मशान-वैराग्य भी नहीं रह जाता है। श्मशान से हटते ही हम सुरक्षित अनुभव करने लगते हैं। मृत्यु अभाव है, वियोग है, जैसे अन्धकार अभाव है। प्रकाश जहाँ होता है, अन्धकार टिक नहीं पाता है। दीपक की महीन-सी ज्योति भी गहन अन्धकार को पराजित कर देती है। जागरण की ज्योति जहाँ होती है, मृत्यु को आने नहीं देती है; पर जहाँ जागरण थक जाता है, मृत्यु उसे घेर लेती है। मृत्यु वियोग हो कर पीड़ाकारक हो जाती है। हमारी दृष्टि फलते-फूलते वृक्ष पर ही होती है। जमीन में अंकुरित होता बीज दृष्टि में नहीं आता है। बीज का विलय ही वृक्ष का उदय है, जन्म है। हमारा मोह-जन्य स्वार्थ संयोग में सुख और वियोग में दुःख मानता है। घटनाओं में सुख-दुःख होता ही नहीं है। सुख का कारण ही दुःख बनता है। हमारी हर अपेक्षा, और अभिलाषा अपनों-से होती है। यह अपनत्व अत्यन्त निकट हो कर भी अन्य है। जो अन्य है, वह सदैव पर है। 'मैं' के लिए देह भी अन्य होती है, इससे वह भी पर हुई रहती है।

पर सदैव अपना नहीं होता। जिसे अभी प्रिय मानते हैं, तत्क्षण अ-प्रिय हो जाता है। पिता, पुत्र, पत्नी, मित्र, परिवार, समाज आदि सब मेरे लिए होने से मेरे होते हैं, प्रिय होते हैं। जब 'मैं' अमान्य कर देता है वे सब कुछ हो कर भी मेरे लिए नहीं रह जाते हैं। विवेक जहाँ होता है, सुख-दुःख अपना होता है। वह कभी मूर्च्छा में रहता नहीं है। इससे वह सबसे परे रहता है। सुख-दुःख उसे लगता नहीं है। संयोग ही वियोग और वियोग ही संयोग हुआ रहता है। उसके लिए संसार सार हो कर भी असार होता है। संसार का व्यवहार-सूत्र ही यह है, जो मिलता रहा है, वह कृतार्थ नहीं करता और जो नहीं होता है अथवा हो कर चला जाता है, उसका कष्ट और वियोग होता रहता है।

मृत्यु 'पर' से वियोग है। इसी से वह समयगत है, आंशिक है। मोह रोता है, कलपता है, पछाड़ें खाये रहता है, वही अपना अभिनय और प्रदर्शन किये रहता है। अवधि पा कर उसकी सघनता घटती जाती है। अन्य में होने वाली घटना में संयोग एवं वियोग देखते रहना ही उलझना है। 'मैं' के लिए देह सबसे निकट और अन्ततम हो कर भी छोड़ जाती है। सभी प्रकार के संयोग एक साथ मिट जाते हैं।

देह का यह वियोग 'मैं' को बाँधना नहीं है। मैं, अपनी नवीन यात्रा के लिए हो जाता है। वियोग, अभाव-जन्म है, वह स्वप्नों, स्मृतियों और कल्पनाओं में अधिक होता है। इसी से वह अवधि-पार जाता नहीं है। मृत्यु वियोग हो कर भी, जन्म का संयोग है। बीज में वृक्ष और वृक्ष में बीज की तरह है।

मृत्यु का भय भयावना हो कर ऋया रहता है, हम इससे भागते रहते हैं। जन्मते शिशु से बालक, युवा और वृद्ध हो कर नये परिवेश में पूर्व संस्कारों के साथ दौड़ की यह अनवरतता ठहरने नहीं देती। लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता है। दौड़ में ठहरना पागलपन या मूर्खता है। दौड़ से अलग हो कर दर्शक होना, साक्षी होना भी निठल्लापन हो जाता है। हम अपनी श्वास की गति को भी भुलाये रहते हैं। दौड़ में गिरना, उठना, टकराना सब हुआ रहता है, दौड़ स्थगित नहीं होती। दौड़ में मरना भी विराम या विश्राम नहीं होता। मृत्यु दौड़ की तीव्रगति है। यही कारण है कि अनन्तकाल से 'मैं' की दौड़ जारी है। हम हर समय मरते रहते हैं। मरण का भय दौड़ाये रहता है। मृत्यु मंजिल नहीं बनती। मंजिल के लिए होने भी नहीं देती। मृत्यु मोह का विस्तार है, नये सपनों और परिवेश का प्रसार है। यह विस्तार और प्रसार भय हो कर भी लुभावना हुआ रहता है, बाँधे रहता है। मृत्यु बन्धन है। यह बन्धन इतना महीन है, दिखने में आता नहीं है, टूटने को होता नहीं है। मृत्यु विस्थापित नहीं करती, स्थापित भी नहीं होने देती। मृत्यु में अन्य कोई रहता नहीं है। तुम और वह सब समाप्त हो कर केवल 'मैं' ही शेष रह जाता है।

मृत्यु निश्चित है, यह वास्तविकता है। हर जन्म अपने साथ मरण ले कर आता है। एक पल जाता है, इसी से नया पल आता है। हर जन्म की यही नयित है। जन्म स्वयं मरण का एक छोर है। जन्म और मरण दोनों माया हैं। जन्म-जयी हो कर ही मृत्युञ्जयी होना होता है। लहर का विलय निश्चित है। तट पर पहुँची लहर अपनी यात्रा सम्पन्न कर लेती है। कोई भी जीव या पदार्थ अवधि पा कर व्यतीत हुआ जाता है। यह व्यय ही सृष्टि का क्रम है। इसीसे जीवन की धारा अनवरत बनी रहती है। रूप, गुण और पर्याय बदलते रहते हैं, जीवन अखण्ड है। जीवन की अमृतमयी धारा में मरण, जन्म का त्यौहार है तथा जन्म मृत्यु का आमन्त्रण है।

मरना भी अपने-आपसे होता नहीं है। आत्म-हन्ता कोई होता नहीं है। जो अपने से मरते हुए लगते हैं, वे इतनी मूर्च्छा में होते हैं कि देह-पतन में अपराध-बोध होता नहीं है। देह का कम्पन इतना तीव्र और आवेगमय हो जाता है कि हम उसमें रहने की क्षमता ही खो बैठते हैं। देह का यह व्यापार अनायास नहीं होता। यह आवेग पूर्वर्जित संस्कारों का ही परिणाम होता है। संस्कार जहाँ पूर्ण

नहीं होते, कोई भी आधार ऐसा मिल जाता है, संवेग शान्त हो जाते हैं। मृत्यु टल जाती है। स्थिति सम हो जाती है। मृत्यु अनचाही कभी आती नहीं है। देह से विरत होना ही तब होता है, जब नवजन्म का आधार बन चुका होता है। सूर्य अपनी यात्रा में एक पल भी पूर्व या पश्चात् नहीं हो सकता। दो रात के बीच दिन होता है, वैसे ही दो दिनों के बीच एक रात होना भी कहा जा सकता है। यह हमारी दृष्टि है कि हम दो दिनों के बीच रात देखते हैं अथवा दो रातें देख कर, दिन के दर्शन पाते हैं। प्रकाश और जीवन के प्रति श्रद्धान् जिसमें होता है, वह दिन देखता है। जबकि, दिन और रात अपने क्रम में आते और जाते हैं। एक पल का भी विलम्ब नहीं होता। मृत्यु भी पूर्व एवं पश्चात् नहीं होती, वह जरा भी विलम्बित नहीं होती है।

मृत्यु सत्य है, यह कहना और मानना ही जीवन के अस्तित्व को नकारना है। सत्य कभी अभाव नहीं होता। मृत्यु होती तो स्वभाव होती। सत्य प्रकाश है, चेतना है, 'है-पन' है। सत्य सदैव है, सर्वदा है। पर सत्य का नहीं होना, मिथ्या होना नहीं है। प्रकाश नहीं है, इससे अन्धकार का होना आवश्यक नहीं है। गहन अन्धकार में भी प्रकाश का अंश रहता है। निद्रा एवं मूर्च्छा में भी चेतना रहती है। चेतना में निद्रा या मूर्च्छा नहीं रहती। प्रकाश में अन्धकार नहीं रहता। मृत्यु भी 'मैं' में नहीं, देह में रहती है। देह के साथ अभिन्न हो कर 'मैं' को आक्रान्त किये रहती है।

मृत्यु आकाश की तरह शून्य है। इससे अनन्त है, सत्य होने का आभास दिये रहती है। उसका यह स्वरूप ही उसे अगम्य एवं अगोचर बनाये रहता है। मैं को मरण-बोध होने नहीं दिया जाता। देह एक ही समय में 'मृत्यु' और 'मैं' दोनों के साथ विलास किये रहती है। मैं, देह से व्यामोहित हुआ उसे ही प्रमाण माने रहता है। अपने चिरज्योति-स्वरूप के लिए होने की जगह देह की वासना में चिरनिद्रा को आलिंगित किया जाता है। मृत्यु देह की होती है और कम्पित 'मैं' होता है। इसी से विकल्पों से निवृत्ति होती नहीं है। वह मकड़ी-के-जाल में उलझी मक्खी की तरह अधिक उलझता ही रहता है। देह को मरण से बचाने, दूर रखने का उपाय किये रहता है। देह की सुरक्षा को ही 'मैं' की सुरक्षा मान कर पदार्थ मय होता जाता है। अपने जीवन-लक्ष्य को अनदेखा किये रहता है। स्व-ज्ञान को प्रमाण मानने की अपेक्षा देह को प्रमाण माने रहता है। ज्ञान-स्वभावी हो कर भी ज्ञेय-प्रमाण के लिए नहीं होता।

'मैं' ज्ञाता-दृष्टा होता ही नहीं है, मृत्यु का भी नहीं होता। वह पदार्थों में ही सुरक्षा, वैभव, विकास और लक्ष्य देखने लगता है। स्व-पर पदार्थों का यह

मिश्रण दैहिक भी होता है, मानसिक भी होता है। देह स्वयं पदार्थ है, पदार्थ ही उसके आकर्षण होते हैं। देह के व्यामोह में पदार्थों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप कर अपने अधीन करने लगता है। पदार्थ अधीन होते नहीं है, 'मैं' अवश्य उनके आश्रित होता जाता है। हर पदार्थ अपनी स्वतन्त्र स्थिति में रहता है, बनता है और स्वयं व्यतीत होता है। पदार्थ में पदार्थ का विलय होता नहीं है, मिश्रण होता है। वह अपने रूप, गुण और पर्याय बदलता रहता है। यह परिवर्तन ही भ्रमित करता है, स्वामित्व का आभास होने लगता है।

सागर में तरंगें उठती और गिरती हुई दीखती हैं; पर, तल पर हो कर सम स्थिति में आना और होना दृष्टिगत नहीं होता। वैसे ही 'मैं' का देह से विरत हो कर नये प्रदेश के लिए होना नहीं दिखता। समय के लघुतम बिन्दु पर होने वाली यह घटना चेतना का महाविस्फोट है। 'मैं' एक ही समय में देह छोड़ता भी है, देह से अपने को जोड़ता भी है। जन्म-मरण का यह समय भावातीत स्थिति है, जहाँ गति भी सम हो कर रह जाती है। अन्तर का आकाश बाहर आ जाता है, अन्तर और बाहर एक हो जाता है। समय का कोई अंश पकड़ में नहीं आता, काल का यह अंश गणना में नहीं आता। काल स्वयं सृष्टि और प्रलय हो जाता है। जन्म और मरण में क्या पूर्व में होता है, यह भी समय में ही हो जाता है।

सूर्य जहाँ उदित होता है, अस्त होता है; समय में होता है। अस्त और उदय होता सूर्य एक समान होता है। वह काल ही संध्या हो जाता है। अपनी यात्रा में जहाँ कहीं अस्त हुआ रहता है, वहीं यहाँ उदय होता जाता है। सूर्य अस्त भी नहीं होता, इससे उदय भी नहीं होता। उदय और अस्त, क्षेत्र और काल के अनुसार यहाँ और वहाँ हो जाता है। उदय में उभरता हुआ रहता है, अस्त में डूबता हुआ होता है। सूर्य की यह यात्रा अनवरत है। 'मैं' भी जन्म और मृत्यु में हो कर क्षेत्र और काल के अनुसार यहाँ और वहाँ हुआ रहता है। मैं, स्थूल शरीर में व्यक्त होता है और सूक्ष्म शरीर के साथ यात्रा किये रहता है, इससे मृत्यु अभाव हो कर भी सत्यवत हुई रहती है।

मृत्यु का अनजानापन प्राणों को विह्वल किये रहता है। मृत्यु के बाद क्या, यह प्रश्न है और अनुत्तरित है। प्रश्न जहाँ से आता है, उत्तर भी वही रहता है। मृत्यु अपनी मौत मरने को नहीं होती। 'मैं' भी अपने को मरा हुआ देखने, सुनने और समझने को नहीं होता। चेतन कभी अभाव में नहीं होता। इसीसे 'मैं' अपनी देह की मौत को भी देखता नहीं, उसे अनुभूत भी नहीं करता। वह जो जानता है, वह अन्य में होने वाली मौत से ही जानता है। दर्शन, धर्म, तत्त्व-ज्ञान तथा समूचा चिन्तन मनन 'मैं' को जीवन्त बनाये रखने के उपाय हैं। परलोक की धारणा,

स्वर्ग एवं मोक्ष के लुभावने स्वरूप 'मैं' को आश्वासन हैं। देह को मौत के लिए करके स्वयं 'मैं' मुक्त हुआ रहता है। जिस देह में हो कर वह जीवन भोगता है, उसे वह स्वयं परायी कर देता है, 'मैं' को अलग कर लेता है।

सृष्टि के क्रम में उदय-विलय और निरन्तरता है, यही पुनर्जन्म का आधार है, दर्शन है। बीज अंकुरित होता है, वृक्ष बनता है। वृक्ष में असंख्यात वृक्ष निहित होते हैं; पर वे सब फलीभूत नहीं होते। हर जीव में भी अनन्त जीवाणु होते हैं। पुरुष और नारी की युति से असंख्यात प्रकट हुए रहते हैं। जनन की पूरी प्रक्रिया दैहिक होती है। सन्तान का जन्म संयोग का परिणाम है, जिसमें पूर्व संचित संस्कार कारण हुए रहते हैं। पुनर्जन्म के दर्शन में जन्म और मरण एक ही बिन्दु के अलग-अलग स्वरूप हैं। 'मैं' की अनवरतता कार्मण अर्थात् सूक्ष्म शरीर को यात्रा मय किये रहता है।

'मैं' अपने कार्मण शरीर के साथ नये परिवेश में जन्मता है। यही उसका विलय होकर भी उदय है, निरन्तरता है। सूक्ष्म देह का दर्शन स्थूल देह को मौत के लिए करके 'मैं' को यात्रामय किये देता है। पुनर्जन्म की यह धारणा इतनी गहरी है कि अधिकांश धर्म, नीति-शास्त्र, विधान, व्यवस्थाएँ उसी के अनुसार प्रस्थापित हैं। मौत, मैं और देह-में-मौत का अनजानापन देह को मौत के साथ जोड़े रहता है। देह अपनी जड़ता में 'मैं' की जड़ता को व्यामोहित किये रहती है। चेतना को प्रकट होने नहीं देती। मैं पदार्थों के आकर्षण में देह के साथ विलास किये रहता है। मैं की चेतना पर राग-मोह के बादल इस तरह छाये रहते हैं कि अपने अन्तर में झाँकना होता ही नहीं है। देह को मौत पूरी तरह जकड़ लेती है, मैं का चेतन स्वभाव प्राणों के लिए हो जाता है। देह से विरत हो कर जहाँ से आता है, वहाँ चला जाता है।

सागर में हर समय तरंगें बनती रहती हैं। हर तरंग वे ही जल-बिन्दु नहीं होती हैं। तल पर होने के साथ असंख्यात जल-बिन्दु जल में विलीन हो कर सागर हो जाते हैं; लेकिन तरंगें निरन्तर बनी रहती हैं। इन तरंगों से आभास यही होता है कि जल-बिन्दु यथावत हैं। वैसे ही 'मैं' समष्टिगत हो कर आकाश में लय हुआ रहता है। जल-बिन्दु तरंग के लिए नहीं हो कर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में जहाँ जल-बिन्दु हुई रहती है, वहाँ वह सागर भी होती है। मैं भी अपने संस्कारों में समष्टिगत हो कर सृष्टि हुआ रहता है। ये संस्कार ही उदित होते रहते हैं, इसी से सृष्टि का क्रम अनवरत है।

'मैं' अपनी देह में मौत को नहीं स्वीकारता। 'मैं' जिस नाम-कर्म से पहिचान बनाता है, वह सबसे प्रबल वासना होती है। मैं का यह मोहनीय कर्म सन्तान में

प्रकट होता है, जो उसकी अभिलाषा, उसका भविष्य और नाम होता है। माता-पिता के लिए उनका जाया अपनी काया से अधिक होता है। सन्तान माता-पिता की समस्त जीवनी शक्तियों को अपने में समाहित करता आता है। वही उपलब्धियों का उत्तराधिकारी होता है। सन्तान प्राणों से भी अधिक बड़ा प्राण होता है, आशा से भी बड़ा होता है।

सन्तान उदय है, जहाँ निज का विलय है, परम्परा की निरन्तरता है। 'मैं' को उसके संस्कारों का स्वरूप मिल जाता है। पुरुष पिता बनने के साथ प्रजापति और नारी माँ बन कर शक्तिस्वरूपा हो जाती है। दोनों मिल कर सृष्टि हो जाते हैं, समष्टि के लिए हो जाते हैं। एक से अधिक सन्तान देह और मन का विस्तार है। हर सन्तान आत्मज होती है, अपना ही स्वरूप होती है। पदार्थ-जड़ता लिये होते हैं, इससे उनका सम-विभाजन होता है।

'मैं' सब सन्तानों में समान रूप से व्यापक होता है। माता-पिता के लिए सब एक समान एकप्राण होते हैं। 'मैं' अपना सम्पूर्ण विलय करके सन्तान में ही अपने को देखता, जानता और समझता है। उसे अपने से अधिक सम्पन्न, योग्य बनाने को होता है।

'मैं' का सन्तान में अवतरण विकास-यात्रा है। एक-से-एक को उपलब्ध होते जाना ही प्रवाह है। समूचा ज्ञान-विज्ञान, अन्वेषण, उद्यम, क्रिया-कलाप, स्वामित्व, सत्ता का प्रसार आदि सबका कारण सन्तति में निज का आरोपण है। 'मैं' जो कर रहा होता है, वह सन्तति के लिए होता है। मैं स्वयं अतीत होता जाता है, जब सन्तान वर्तमान हो कर आ जाती है। जन्म ही उस समय सार्थक होता है, जब स्वयं 'मैं' सृष्टि बनता है। पुत्र जन्म का होना 'मैं' के लिए मरण का आमन्त्रण है। नबजात शिशु की किलकारी बोध कराये रहती है कि अब 'मैं' आ गया है, प्रति-स्वरूप हो कर वर्तमान है। 'मैं' अपने को भूल जाता है, आगत में स्वयं को समाहित करता जाता है। मैं वह रहता ही नहीं है, जो वह होता रहा है।

मौत, मोह की होती है, इसी से भयावह होती है। देह के छूटने से अधिक कष्ट अपनों से छूटने का होता है। सन्तान जहाँ स्थापित हो कर स्वयं 'मैं' हो जाती है, देह छूटने की पीड़ा नहीं होती; पर जहाँ कामना और वासना शेष होती हैं, मौत स्वीकार्य नहीं होती। चेतना पर मोह का राग मृत्यु के पार जाने नहीं देता। यह मोह ऐसा होता है, जो सबमें ही होता है। ज्ञानी-ध्यानी अपने चिन्तन, लेखन, मनन अथवा ऐसी क्रिया से मोहित हुए रहते हैं, उनकी सम्पन्नता की आवश्यकता लिये रहते हैं। सब की अपनी वासना होती है, जिसमें वह जीता है। वासना

जितनी तीव्र होती है, मृत्यु वैसी ही हुई रहती है। वासना का अन्त या समापन जहाँ हो जाता है, मृत्यु स्वयं अपनी मौत मर जाती है। समापन स्वयं परिपूर्णता है। मृत्यु स्वयं वासना है, वासना का अन्त मृत्यु का ही अवसान है।

मृत्यु एक साथ एक ही समय में समस्त वेदनाओं, कष्टों, सन्तापों और भय से मुक्त किये देती है। वह सबके प्रति निरपेक्ष होती है, बँधती नहीं है, बाँधती भी नहीं है। उसके समक्ष कोई सिद्ध नहीं होता। पुरुष-स्त्री, पशु-पक्षी, तिर्यञ्च, पेड़-पौधे, पहाड़ आदि सब एक समान होते हैं। लोक की सारी शक्तियाँ मृत्यु के लिए विजित होती हैं। परस्पर की प्रतिज्ञाएँ, मनुहारें, कामनाएँ मृत्यु के समक्ष व्यर्थ होती हैं। वह सुखी-दुखी, रोगी-निरोगी का भेद नहीं करती। अच्छा-बुरा, हित-अहित, लाभ-हानि उसके अर्थ-कोश में नहीं होते। प्रकृति में जो कुछ है, क्रमबद्ध है। जो होना है, वही होता है और अभी होता है। प्रकृति में 'कभी' होता नहीं है। यह जानते हुए भी उस संभाव्य फल को टालने के विविध उपाय, उपचार किये रहते हैं। वाणी से मौत का आह्वान करते हुए भी मन में भयभीत रहते हैं। यह जन्म इतना जाना-पहिचाना लगता है कि जहाँ तक मेरेपन की पहुँच होती है; उन सबमें प्राण अटके रहते हैं। मन, वाणी, कर्म, संकल्प आदि सबसे बड़ा प्राण होता है। प्राणों का छूटना सहज नहीं होता।

मृत्यु का भय, उसके होने से अधिक भयावना होता है। नाग काल का सूचक है, इस मान्यता ने नाग को ही शत्रु बना दिया है। मृत्यु भी भय है, जब तक आ नहीं जाती है। आने के साथ पूर्ण समर्पण हो जाता है, दसों दिशाएँ खुल जाती हैं। मरण का क्षण अनन्तता प्रदान किये देता है। मृत्यु में स-जग रहते हैं, जगत् ही स्व 'मैं' समा जाता है। मृत्यु में समत्व ही सजगता है, मंगल हो कर उत्तम है। जीव-स्वरूप में शव से शिव होने की पावन यात्रा है। सारे अन्तर्द्वन्द्व और संशय समाप्त हो जाते हैं। जगत् और मैं का अलग अस्तित्व रह नहीं जाता है। सबमें 'मैं' और 'मैं' में सब हो जाते हैं। सारा जगत् परम प्रीति में इस तरह आलिंगनबद्ध हो जाता है कि हिंसा और हिंसकता ही विदा हो जाती है। समत्व के समक्ष द्वैत, दुविधा, दुराव टिक नहीं पाते हैं। मृत्यु पटाक्षेप है, जन्म-मरण के पार जाने का बोध है। अहम् मयी चेतना का परिष्कार है, स्व का साक्षात्कार है।

मृत्यु का सतत् दर्शन मंगल है, मेरे-पन के दोषों से पार पापों का क्षय है। मृत्यु-दर्शन जीवन के हर कार्य-व्यापार में सावचेत किये रहता है, पावन बनाये रहता है। जीव को उसकी अखण्ड सत्ता में देखता है। वह जानता है, जो समक्ष है, वही यह नहीं है। अभी जो मरीची है, वही वर्धमान है। इसी से वह अन्य को उपदेश देता नहीं, लेता भी नहीं है। फिर भी, वह अपने को जानता है तो हेय भी नहीं है। शास्त्रों का स्वाध्याय करना, विधि-विधानों को समझना, नियमों का

पान्न करना आदि भी होते नहीं हैं। वह केवल इतना ही जानता है—उसकी सीमा वहीं तक है, जहाँ अन्य नहीं आता। अन्य में हस्तक्षेप मर्यादा-विहीनता है, अहम् का आरोपण है। वह अपना हर कर्म संकल्प और कामना शून्य हो कर ही करता है, जैसे पिता अपने बालक के लिए करता है। परिवार में रह कर अर्थापार्जन भी कर्तव्य मान कर करता है, जिसमें मिलावट, दिखावट या सजावट नहीं होती है।

मृत्यु दर्शन एवं स्मृति, मन, वाणी और कर्म को पवित्र किये रहती है। चेतना में राग आता नहीं है। हर प्राणी अन्य को मार कर आगे बढ़ने की लालसा लिये रहता है। हर नीचे की सीढ़ी अगली सीढ़ी को खाली चाहती है। यह ऐसा मनोभाव है, जो सबमें है। लोक के भयंकर आतंक को जो देखता है, जानता है, वही मृत्यु की शाश्वत सत्ता का बोध करता है। वह अपनी क्रिया और वाणी से ही नहीं मन से भी मौन हो जाता है। पूरा संसार ही उसका घर होता है और घर देवालय होता है, जो सबके लिए सबका होता है। उसका कहीं स्वामित्व नहीं होता, पर वह उदासीन भी नहीं होता। चिन्ताओं एवं विकल्पों से शून्य हो कर वह इस तरह रहता जीता है कि मृत्यु भी उसके लिए पाहुना हुई रहती है। हर पल उसका स्वागत किये रहता है। मृत्यु से मैत्री ही जीवन का मंगल है।

मृत्यु मंगलमय हो कर उत्तर हो जाती, शरण हो जाती है, जब स्व का विकास जगत् का पर्याय हो जाता है। निज का निज को समर्पण लक्ष्य से तादात्म्य का सध जाना है। मृत्यु से तदाकार हो जाना ही मोहशून्य हो जाना है। मृत्यु की सत्ता बाहर है, भीतर नहीं है। इसी से मृत्यु भयावनी हुई रहती है। 'मैं' की सत्ता बाहर भी है, भीतर भी है, वह काल-पाश को काट देता है, मृत्यु से मुक्त हो जाता है। मोह नहीं रह जाता है, मृत्यु रह नहीं जाती है। मोह ही मृत्यु है और मोह सर्व-व्यापी हो कर सबमें सबके लिए हो जाता है, वही मोक्ष हो जाता है।

मृत्यु ही 'मैं' की होती है। मैं अहंकार है, दम्भ है, जो हर समय मरता रहता है। मैं ही, आधि-व्याधि, उपाधि से जुड़ा होता है। मैं, कभी अपने को सन्तान में देखता है और उसमें ही अपना स्वरूप पाता है। मैं पुनर्जन्म के लिए हो कर आश्वस्त होता है। पदार्थों का दान कर स्वर्ग की कामना लिये होता है, मौत से भी विनिमय करता रहता है।

मृत्यु मूर्च्छा नहीं है। वह चुपचाप आ कर घेर लेती है, ऐसा भी नहीं है। जो जैसे होते हैं, उनके लिए मृत्यु वैसी हुई रहती है। मृत्यु जीवन का दर्पण है। उसमें एक ही समय में एक साथ सब कुछ प्रकट हुआ रहता है। मृत्यु अभय हो जाती है, आनन्द हो जाती है। मरणधर्मा देह मृत्यु के लिए हो कर स्वयं अभिनन्दनीय हो जाती है। पुद्गल अपनी जगह हो जाते हैं। मृत्यु अन्त हो कर अनन्त हो जाती है।

मृत्यु कभी निर्मम नहीं होती। जो हर पल साथ है, वह निर्मम हो नहीं सकता। मृत्यु चित्त की निर्मल वृत्ति है, शरण्य है। अनन्तानन्त लोक और काल मृत्यु में समाये हुए हैं। इसे जान लेना ही जीवन को जानना है। अपने स्व-स्वरूप में हो कर स्व-समय में होना है। मनुष्य-देह में मृत्यु देह का धर्म है, मंगलमय है, उत्तम है, शरण है। मृत्यु मुक्ति है, जन्म से मुक्ति है। □ □

जैन बनाम जैनेतर : अच्छे कौन ?

भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी बहुत-सी ऐसी संस्थाएँ हैं, जो अहिंसा के प्रचार तथा हिंसा-के-विरोध में कार्य कर रही हैं। उनमें-से-कुछ संस्थाएँ हैं—

(१) 'बिउटी विदाउट क्रूएल्टी'—यह संस्था सौन्दर्य-प्रसाधानों में हिंसा के विरुद्ध कार्य करती है। इसका मुख्यालय लन्दन में है। इसकी स्थापना सन् १९५९ में हुई थी। भारत में सन् १९७४ में इसकी एक शाखा खोली गयी। पूना में इसका मुख्यालय है। यह संस्था स्थान-स्थान पर साहित्य वितरित करती है और चलचित्रों के माध्यम से अहिंसा का प्रचार करती है।

(२) 'नेशनल एण्टी-विविसेक्शन सोसायटी'—इसका मुख्यालय भी लन्दन में है। यह संस्था जिन्दा प्राणियों पर होने वाले वैज्ञानिक प्रयोगों के विरुद्ध कार्य करती है।

(३) 'सोसाइटी फॉर प्रिवेंशन ऑफ क्रूएल्टी टू एनिमल्स'—यह संस्था जिला-स्तर पर कार्य करती है।

(४) 'वर्ल्ड फेडरेशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ एनिमल्स'—यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है।

(५) 'इन्टरनेशनल प्रिमेट प्रोटेक्शन लीग'—यह संस्था बन्दरों की रक्षा के लिए कार्य करती है।

इनके अतिरिक्त और भी कई संस्थाएँ हैं जो प्राणियों की रक्षा के लिए कार्य करती हैं। भारत में कई संप्रदाय हैं, जो अहिंसा के प्रचार में कार्यरत हैं। इन सब व्यवस्थाओं को देख कर प्रसन्नता होती है कि आज भी देश-विदेश में भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त की गूंज है।

लेकिन यह प्रसन्नता अधिक देर तक रहने वाली नहीं है। जिन लोगों को अहिंसा-का-पुजारी समझा जाता है आज वे तमाम लोग ही हिंसक कार्यों में लगे हुए हैं। जैनधर्म अहिंसा-प्रधान धर्म है। उसके अनुयायी अहिंसा के सच्चे उपासक समझे जाते हैं; लेकिन आज बहुत-से जैनों ने जो शर्मनाक कार्य किये हैं वे सच्चे अहिंसक के दिल को ठेस पहुँचाने वाले हैं।

गजराती भाषा के प्रमुख समाचार-पत्र 'साप्ताहिक लोकसत्ता' (१२ अप्रैल १९८७ : महावीर जयन्ती) में एक लेख छपा था। शीर्षक था—'महावीर प्रभुना मारग थी जैनों लाखो जोजन दूर' (ले.—संजय वीरा)। इस लेख में एक जगह लिखा है—'प्रभु भगवान् महावीर के मार्ग से उसकी संतान आज बहुत दूर चली गयी है। जैन शुद्ध वनस्पति के नाम से विकने वाले खाद्य में गाय तथा सुअर की चर्बी मिलाने वाले जैन थे। देवनार के कल्ल खाने में उत्पादित मांस के निर्यात का काम जैन मालिकों के हाथों में है। गुजरात राज्य में मुर्गों तथा अण्डों का प्रसार करने वाले सरकारी मण्डलों का प्रमुख डॉ देड़िया कच्छी जैन है। वालकेश्वर (नगर) में एक प्रमुख श्रावक अपनी स्वयं की दुकान में अण्डों से निमित शैम्पू बेचता है। बम्बई के मांसाहारी होटलों से जैन लोग ही अधिक कमाई करते हैं। वे ही (फिर) जैन मन्दिरों में जितना दान देते हैं, उतना दूसरा कोई नहीं देता।'

जैन कितने गिर गये हैं, यहाँ यह स्पष्ट है। यह हम सब के लिए बहुत शर्म की बात है कि वे जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त—अहिंसा के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। आज जैन उन कार्यों को करने में नहीं हिचकिचाते हैं,

जिन्हें कसाई और चाण्डाल तक करने से घबराते हैं।

यह सब जान कर कितना दुःख होता है कि आज समाज में वे ही लोग अधिक सम्मान पाते हैं, जो अधर्म से कमाते हैं। एक ओर बहुत से अजन अहिंसा के प्रचार में लग रहे हैं, वहीं दूसरी ओर जैन स्वयं अहिंसा की जड़ें खोदने में लगे हुए हैं। वस्तुतः जो लोग हिंसक कार्यों में संलग्न हैं, वे जैन हैं ही नहीं। धार्मिक संस्थाओं में ऐसे लोगों से धन लेना अनुचित है। समाज को ऐसे लोगों का बहिष्कार कर देना चाहिये तथा उन्हें स्पष्टतः सूचित कर देना चाहिये कि वे जैन नहीं हैं।

—डॉ. अनिलकुमार जैन

क्या खायें / क्या न खायें ?

आहार प्रत्येक प्राणी के जीवन के लिए अनिवार्य है। इससे उसका शरीर तो पोषण-शक्ति पाता ही है, उसके प्राणों को भी बल मिलता है। आदमी जैसा खाता है, वैसा ही उसका मन होता है। महाप्रलय के बाद भोग-युग में प्राणियों के आहार की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती रही। प्रलय के शान्त होने पर जो पेड़-पौधे, फल-फूल प्राकृतिक प्रक्रिया से उग आये, उन्हें मनुष्यकृत न होने के कारण कल्पवृक्ष कहा गया। जब शनैःशनैः उन वृक्षों का उगना और फलना उनकी खपत की तुलना में कम होने लगा तब वे धीरे-धीरे लुप्त हो गये। तब मनुष्य को प्रथम सम्राट् ऋषभ देव से खेती तथा उद्योग द्वारा खाद्य एवं जीवनोपयोगी अन्य सामग्री पैदा करने की शिक्षा मिली। शुरू में प्रकृति और बाद में स्वयं मनुष्य-द्वारा पैदा किये खाद्य पदार्थों का सेवन किया जाने लगा। इस प्रकार मनुष्य शुरू से ही शाकाहारी है।

मांसाहार का प्रचलन वैसे नया नहीं है। आज जहाँ विश्व में मांसाहारी गुणों

के आधार पर शाकाहारी बने हैं (बनते जा रहे हैं); वहीं शाकाहारी भी मांसाहारी बनने लगे हैं। व्यथा और वेदना का विषय तो यह है कि उनमें कुछ आज के शौकीन जैन युवक भी आ जुड़े हैं। विश्व में मांसाहारियों की संख्या शाकाहारियों से ज्यादा है। भारत में भी उनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक हो गयी है। ऐसी दशा में जो सरकार उनका भी प्रतिनिधित्व करती है, उससे मांस, मछली और अण्डों आदि के प्रचार-प्रसार से बचने की आशा कैसे की जा सकती है? न उनका प्रचार, प्रसार और निर्यात बन्द हो सकता है और न भक्षण ही। धर्म और समाज के बचाव के लिए इस संबन्ध में जो कुछ भी संभव हो वह हमें खुद ही करना है, हर तरीके से।

शाकाहार दो प्रकार का है। एक, सचित्त और दूसरा अचित्त। हरी शाक-सब्जियाँ और फल-फूल सचित्त कहलाते हैं। हरी वनस्पति की भी दो दशाएँ बतायी हैं। एक सप्रतिष्ठित; और दूसरी अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशा में प्रत्येक वनस्पति में अगणित जीव होते हैं और अप्रतिष्ठित दशा में उसमें एक ही जीव रह जाता है। उसे अचित्त करके खाया जाता है। सचित्त को अचित्त करने के लिए उसे या तो सुखा लिया जाता है या फिर आग पर पका लिया जाता है। चाकू, हँसिया आदि से काट कर भी उसे अचित्त कर लिया जाता है।

एक गृहस्थ, हिंसा से पूरी तरह बच नहीं सकता। जैनधर्मानुसार वह उद्यमो, आरंभी, और विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं है। वह केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी है। प्राणघात की भावना से किये गये अथवा किये जाने वाले कामों में उसे हिंसा का दोष लगता है। हिंसा का पूर्ण त्यागी न होते हुए भी उसे अपने कार्यों में विवेक के साथ हिंसा-भावना से दूर रह कर यथासंभव सावधानी बरतनी

चाहिये। आध्यात्मिक विकास के लिए श्रावक की जो ग्यारह प्रतिमाएँ (सीढ़ियाँ) हैं उन पर अग्रसर होते रहना चाहिये। श्रावक अणुव्रती होते हैं, महाव्रती नहीं। महाव्रती तो केवल श्रमण ही होते हैं। वे भी तेरहवें गुणस्थान में जा कर ही हिंसा का संपूर्ण त्याग कर पाते हैं।

मनुष्य स्वभाव से शाकाहारी है। उसके शरीर की रचना भी शाकाहारानुकूल है; मांसाहारानुकूल नहीं है। मनुष्य ही नहीं तिर्थचों में भी अनेक जातियों के पशु-पक्षी शाकाहारी हैं। केवल हिंसक पशु-पक्षी ही मांसाहारी हैं। मनुष्य बुद्धि-संपन्न प्राणी है और विवेकी तथा धर्मपरायण भी, फिर भी वह मांस खाता है। मांस भी कोई ऐसा नहीं बचा जिसे वह न खाता हो जबकि हिंसक पशु-पक्षी ऐसा नहीं करते। उनके खाने के जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों की अलग-अलग किस्में हैं और उन्हीं से वे मर्यादा में रहते हुए अपनी भूख मिटाते हैं।

मांसाहारी मनुष्य ने अनेक नयी-नयी तकनीकें विकसित करके प्रयोग तथा प्रशिक्षणों से मांस तथा पशु-पक्षी जन्य पदार्थों को ऐसे नये-नये रूप दे डाले हैं कि अब उन्हें पहचान लेना और उनसे बच पाना आसान नहीं रह गया है। जिस साबूदाने को हम और आप फलाहार समझ कर खाते रहे हाल में पता लगा है कि मनुष्य ने उसकी कुछ किस्में शकरकंद के सड़ाये गये गूदे से भी बनाना शुरू कर दिया है। साबूदाना वृक्षों से प्राप्त शुद्ध भी बनाया जाता है। उसे बंद पैकिटों में प्रमाण-सहित उपलब्ध कराया जाए। अंडों और जानवरों की चर्बी आदि की मिलावट अनेक शाकाहारी पदार्थों में बड़ी होशियारी से होने लगी है। केप्लुलें जिन्हें हम हँसी-खुशी निगल जाते हैं, जिलेटिन से बनती हैं, जो जानवरों से प्राप्त किया जाता है। अनेक

सुगन्धित सौंदर्य-प्रसाधनों में पशुजन्य पदार्थ घड़ल्ले से मिलाये जाते हैं। उनके परीक्षण में जानवरों को भयंकर पीड़ाएँ और यातनाएँ दे कर तैयार किया जाता है। यह सब काम ऐसी सफाई से किया जाता है कि उसका जान पाना और पकड़ पाना आसान नहीं है। सौन्दर्य-प्रसाधनों से तो हम उनका उपयोग न करके बच भी सकते हैं; लेकिन खाना (आहार) तो हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। उसे हम छोड़ नहीं सकते। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे सामिष खाद्य पदार्थों से हम कैसे बचें? जब पूरे कुए में ही भाँग घोल दी जाए तब शुद्ध जल कहाँ से और कैसे मिले?

इस विषय में हमें गम्भीरता के साथ सोचना होगा और कुछ-न-कुछ ठोस काम करना होगा। शासन से हम जैन तथा शाकाहारी सांसदों के माध्यम से यह तो कहें ही कि वह उत्पादकों को ऐसे आमिष-मिश्रित पदार्थों के डिब्बों और शीशियों के लेबलों पर उसके लिखे जाने के लिए कानून बनाये।

इसकी रोकथाम के लिए एक रास्ता यह भी हो सकता है कि विशेषज्ञों की एक उच्चस्तरीय परीक्षण-समिति का गठन किया जाए जिसमें जीव और रसायन-विज्ञान, औषधि-विज्ञान और आहार-शास्त्र के अनुभवी, खोजी ज्ञाता हों। उनके द्वारा संदिग्ध खाद्य पदार्थों के परीक्षण-हेतु एक अति आधुनिक एवं सुसज्जित प्रयोगशाला स्थापित की जाए। वह समिति शाकाहारियों को आवश्यक तथ्यपरक जानकारी तथा चेतावनी देती रहे कि वे किस वस्तु को न खायें और क्यों न खायें? अब हम पुरानी धार्मिक धारणाओं एवं मान्यताओं पर ही निर्भर नहीं रह सकते; क्योंकि आज के मिलावट के तौर-तरीकों (शेष पृष्ठ ४६ पर)

पाठशालाएँ खोलिये !

इन दिनों पाठशालाएँ खोलने की अपीलें लगातार आ रही हैं। हवा गर्म है और नेतृत्व लगातार कोशिश में है कि धार्मिक पाठशालाएँ धड़ाधड़ खुलें तथा धर्म का प्रचार-प्रसार हो या उसका उखड़ता पाया मजबूत बने। दिये जा रहे वक्तव्यों में कितनी निष्ठा और ईमानदारी है, इसकी थाह पाना कठिन है; किन्तु यह असंदिग्ध है कि गत दो-तीन दशकों में परम्परित पाठशालाएँ उजड़ी हैं और उनकी जगह नयी पाठशालाएँ नहीं आ सकी हैं। यहाँ 'नयी पाठशालाएँ' से आशय ऐसी पाठशालाओं से है जो धर्म को सिर्फ धर्म मान कर न चलती हों बल्कि उसे नैतिक मूल्यों और नये वैज्ञानिक संदर्भों से भी जोड़ती हों। ऐसी पाठशालाओं के शिक्षक नयी शिक्षा-तकनीक से जुड़े हुए हों और यह जानते हों कि शिक्षा मात्र शिक्षा नहीं है; बल्कि आने वाले जीवन की एक विशद तैयारी भी है।

ज्यादातर लोग शिक्षा को—विशेषतः धार्मिक शिक्षा को—फिजूल का काम मानते हैं और उस पर इतनी गंभीरता से विचार नहीं करते जितना आज दी जा रही लौकिक शिक्षा पर करते हैं। उनके इस लापरवाह नजरिये के दुष्परिणाम यह निकल रहे हैं कि धार्मिक पाठशालाएँ, जो ज्यादातर धर्मस्थलों में सुबह-शाम लगती हैं (लगती रही हैं), निरन्तर उपेक्षित हो गयी हैं। क्या हम ऐसा कोई उपाय कर सकते हैं कि नयी धार्मिक पाठशालाएँ आधुनिकतम हों और धर्म की सही और उपयुक्त शिक्षा की प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हों?

धार्मिक शिक्षा का जो परम्परित स्वरूप चला आ रहा है, वह अपर्याप्त है और वर्तमान जीवन से बुरी तरह कट गया है। हमारे पास जो भी पाठ्यक्रम है वह विकलांग है अथवा दर्शन/क्रियाकाण्ड से बोझिल है। न तो वह संपूर्ण ही है और न ही सिलसिलेवार। उसमें उम्र-के-अनुसार अध्यापन का भी ध्यान नहीं रखा गया है। हमारे अधिकतर पाठ्यक्रम साधुओं अथवा पुरातनपंथी विद्वानों से प्रभावित चल रहे हैं। जो नये विद्वान् भागीदारी कर रहे हैं, वे शिक्षक भले ही हैं; किन्तु अपने क्षुद्र स्वार्थों के कारण वे उन-उन मुद्दों को टाल रहे हैं, जिन्हें ले कर कोई टकराहट बनती है। यह सचार्इ है कि हमारे धार्मिक पाठ्यक्रम वर्तमान संदर्भों में खड़े हुए नहीं हैं, अतः हम एक सुव्यवस्थित/सर्वसम्मत पाठ्यक्रम की अनुपस्थिति में अपनी समकालीन/आगामी पीढ़ी के साथ न्याय नहीं कर पा रहे हैं। हमने इन दिनों ऐसा कुछ नहीं किया है जिससे धर्म का व्यवस्थित/क्रमबद्ध शिक्षण उभर कर सामने आ सके और एक स्वस्थ मानसिकता का निर्माण हो सके। यहाँ हम यह

नहीं कह रहे हैं कि हम परम्परा को सर्वथा छोड़ दें और आधुनिकता-के-आवेश में कुछ ऐसे विषयों को शरीर कर लें जो धर्म की बुनियाद को ही तहस-नहस करते हैं; किन्तु हम इतना अवश्य देखें कि मुद्रण और प्रकाशन के जो प्रतिमान विकसित हुए हैं उनकी अनदेखी न हो और शिक्षा की दृश्य-श्रव्य तकनीकें - जो हमारे सामने हैं - उनका भरपूर दोहन हो ।

हम ऐसा प्रयत्न करें कि पूरे देश में (देश के बाहर भी) जैनधर्म के शिक्षण के लिए एक एकरूप (यूनीफॉर्म) पाठ्यक्रम हो, जिसे पढ़ाने वाले अध्यापकों-के-लिए एक सुव्यवस्थित शिक्षा-महाविद्यालय हो । जब तक हम अच्छे अध्यापकों का एक दल आविर्भूत नहीं करेंगे, हम चाहे जितना धन और चाहे जितनी ताकत लगा दें, धार्मिक शिक्षण का सफल/संतुलित रूपान्तरण नहीं कर पायेंगे तथा वर्तमान पीढ़ी उस ओर आकृष्ट हो ऐसा चुम्बक भी उसमें नहीं डाल पायेंगे; इसलिए हमें दो बातों को शीर्ष प्राथमिकता देनी चाहिये : एक, धार्मिक शिक्षकों के लिए एक सर्वसम्मत केन्द्रीय शिक्षा महाविद्यालय की पहल करें; दो, एक ऐसी समिति बनायें जो जैन धर्म/दर्शन का आलोडन करे और संपूर्ण जैन समाज के लिए एक निर्विवाद पाठ्यक्रम तैयार करे । ये दोनों मुद्दे इतने महत्त्व के हैं कि इन्हें हम और अधिक समय के लिए टाल नहीं सकते ।

अभी पाठशालाओं की जो रणनीति है, वह स्पष्ट नहीं है । इसमें दो मत नहीं हो सकते कि पाठशालाओं को पुनरुज्जीवित किया जाना चाहिये ; किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि पुनरुज्जीवित जैन पाठशालाओं/धार्मिक स्कूलों का स्वरूप क्या होगा?

यहाँ हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि धार्मिक पाठशालाओं में हम जिन बातों की शिक्षा देंगे (देने जा रहे हैं) उन पर हमारे वातावरण में विशेषतः हमारे अपने घरों में और हमारे नेताओं द्वारा कितना अचूक ध्यान दिया जा रहा है? जब तक हम घर-बाहर में एक अद्वैत स्थापित नहीं करेंगे, धार्मिक पाठशालाओं में नये प्राण नहीं फूंक पायेंगे ।

एक सुझाव और : वह यह कि जैन प्रौढ़ों के लिए भी पाठशालाओं अथवा रिफ्रेशर्स की व्यवस्था की जाए । सही है कि दिग्म्बरो में स्वाध्याय की परम्परा है; किन्तु अभी उसे अधिक प्रभावशाली और परिणामोन्मुख बनाने की जरूरत है । श्वेताम्बरो में यह सूत्र साधुओं के हाथ में है; अतः इस क्षेत्र में उनकी भूमिका काफ़ी निर्णायक सिद्ध हो सकती है ।

जो हो, धार्मिक पाठशालाओं को फिर से खड़ा करने के लिए हम जो भी योजना बनायें वह बिना तैयारी के न हो तथा पग-पग पर ध्यान रखें कि वह ठोस हो/दूरदर्शितापूर्ण हो ।

—प्रलयंकर

कैसे होंगे हम सन् २००१ में ?^१

सन् दो हजार एक में एक भारतीय की क्या अस्मिता होगी, आलोच्य वार्षिकी में इस तथ्य पर बहुविध कोणों से विचार किया गया है। साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, कलाविदों, कवियों, विचारकों ने आगामी भारतीय के उस व्यक्तित्व का अनुमान किया है जो कई सदियों से प्रवहमान है और जिसे अगले बारह वर्षों में सन् २००१ में छलाँग मारनी है। उसके सामने नाना चुनौतियाँ हैं, कई खतरे हैं; किन्तु सबमें बड़ा खतरा है मानव-संबन्धों का। मानव और यन्त्र, मानव और ब्रह्माण्ड, मानव और समाज, मानव और प्रकृति, मानव और जीव-जन्तु/पिड़-पौधे, मानव और विज्ञान, और सर्वोपरि 'मानव-और-मानव' के रिश्ते क्या होंगे-चिन्ता का शीर्षस्थ नाभिक बिन्दु यह है। समस्याएँ लगातार प्रचण्डतर हैं और नज़दीक आते समाधान राजनीति निरन्तर टाल या उलझा रही है। ऐसी स्थिति में स्थूल बदलाव के बीच मनुष्य की चेतना तड़प रही है और वह एक विशेष परेशानी/बिचैनी का अनुभव कर रही है। अन्तरिक्ष में कचरा बढ़ रहा है और अमेरिका का सैन्य विभाग लुक-छिप कर जीवाणु-युद्ध के घातक प्रयोग कर रहा है। ऐसा करते हुए वह न सिर्फ एक अमरीकी के साथ वरन् पुरे ब्रह्माण्ड के साथ विश्वासघात कर रहा है। स्वार्थ बढ़ रहे हैं, मनुष्य यन्त्रवत्/यन्त्रों-का गुलाम हो रहा है, उसने प्रकृति को उजाड़ दिया है, और उसके सामने पर्यावरण के प्रदूषित होने की समस्या अजरर की तरह मुँह बाये खड़ी है। एक असूझ प्रलय उसकी आँखों-के-तले आ बैठा है। वह किकर्तव्यविमूढ़ है और अपनी मनीषा को विकार-वर्द्धन में अचूक जोत रहा है।

प्रस्तुत वार्षिकी में पाँच खण्ड हैं जिनमें क्रमशः मानव एवं प्रकृति, मानव एवं यन्त्र, नव प्रज्ञा : नये आयाम, मानवता को चुनौती तथा विविध, शीर्षकों के अन्तर्गत कई ज्वलन्त समस्याओं और जटिल प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। कुल मिला कर वार्षिकी विचारोत्तेजक है; किन्तु यदि इसे धर्म से किञ्चित् मुक्त रखा जाता और प्रूफ की त्रुटियों से बचाया जाता तो निश्चय ही ग्रन्थ की महत्ता बढ़ जाती। सात सौ पचास प्रतियों का यह द्विभाषिक ग्रन्थ कहीं/कब/किन हाथों में पहुँचेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता; किन्तु एक बात तय है कि यदि इसके सारंश को एक लघु-काय/अल्पमोली पुस्तक के रूप में पुनः परोस दिया जाए तो इसकी परिधि चौड़ा सकती है और यह पढ़े-लिखे आम आदमी तक पहुँच सकती है। हमें विश्वास है 'मित्र परिषद्' हमारे इस विनम्र सुझाव पर अवश्य ध्यान देगी।

१. भारतीय २००१; संपादक-रतनलाल सुराना; मित्र परिषद्, ११५-ए चित्तरंजन, एवेन्यू, कलकत्ता-७०० ०७३; मूल्य-अस्सी रुपये; पृष्ठ २७०; १९८७।

‘समयसार’ एक अपूर्व अध्यात्म-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थाधिराज है। इधर के २-३ दशकों में इस पर काफी छानबीन हुई है। प्रयत्न हुआ है कि इसका कोई निर्विवाद संस्करण सामने आये; किन्तु पीड़ाकारक है यह कि अब तक वैसा हो नहीं पाया है। पूर्वाग्रहों की धूमिलताओं में इसकी आध्यात्मिक उज्ज्वलताओं को व्यर्थ ही तड़पना पड़ा है।

समीक्ष्य ग्रन्थ का संयोजन इसलिए सुखद और संप्रेरक है कि इसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं है। क्रम है : मूल-कुन्दकुन्दाचार्य; तात्पर्यवृत्ति टीका-जयसेन स्वामी; हिन्दी-गद्यान्तर : आचार्य ज्ञानसागरजी; हिन्दी-पद्यान्तर : आचार्य विद्यासागर मुनि। हमारे विचार में ‘समयसार’ के निर्दोष मूल को बिना किसी टीका-टिप्पणी/समीक्षा-विवेचन के सीधा प्रकाशित किया जाए तो वह अधिक प्रभावी/समीचीन हो सकता है। ‘समयसार’ को ले कर हमारा वर्तमान काफी उलझ गया है। आज इसके कई स्कूल/संप्रदाय बन गये हैं। विवाद-के-घेरे से बच कर यदि इसकी प्राण-धारा को कंचन नीर की तरह बहने दिया जाए तो इस ग्रन्थ की तुलना में जैनाध्यात्म का कोई और ग्रन्थ हमारे सामने नहीं है। आशा है अगला संस्करण मूल, टीका, गद्यान्तर, और पद्यान्तर के आलावा कुछ और नहीं होगा।

पाठक की स्वाधीनता और प्रभुसत्ता का ध्यान यदि हम आज रखते हैं तो धार्मिक प्रकाशनों की इससे बड़ी कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। अनुसन्धान आष करें; किन्तु उसकी जटिलताओं-के-जंगल में जैनाध्यात्म का अमृतपान करने वाले सामान्य पाठक को न भटकायें। आचार्य विद्यासागर मुनि के पद्यान्तर के बाद भी एक और पद्यान्तर की आवश्यकता से इन्कार करना संभव नहीं है; तय है कि इन तीनों सीढ़ियों ने पाठक की समझ-यात्रा को काफी सुगम बनाया है और स्वाध्याय-शिल्प से संपन्न किया है।

—नेमीचन्द्र

२. समयसार; आचार्य कुन्दकुन्द; संस्कृत-टीका; आचार्य जयसेन स्वामी, हिन्दी-गद्यान्तर : आ. ज्ञानसागरजी, हिन्दी-पद्यान्तर : आ. विद्यासागरजी; ज्ञानोदय प्रकाश, लार्डगज जैन मंदिर, जबलपुर-४८२ ००२; प्राप्ति-स्थान : संतोषकुमार जयकुमार जैन, कटरा बाजार, सागर; मूल्य-तीस रुपये; पृष्ठ ३९१; प्रथम संस्करण १९६९, द्वितीय संस्करण १९८७।

एक हृद तक ठीक, पर.....

‘तीर्थकर’ के माध्यम से आप समाज/धर्म-जागरण का कार्य चोखा साध रहे हैं। सुलझे हुए ध्यालात तथा स्पष्ट लेखन-कौशल्य अभिनन्दनीय-सामयिक होता है। पत्रिका द्वारा स्व-पर-हित-साधन एक हृद तक ठीक है; पर फ्रेंडली सुझाव है कि कुन्दकुन्द के मूल ग्रन्थ, टीका-ग्रन्थ, प्रवचन-ग्रन्थ के पठन-मनन के पश्चात् यथाकाल लेखन में जुट जाने का शुभ संकल्प मन-ही-मन कृपया करें, क्योंकि आपसे अनेक आशाएँ समाज को हैं।

—अनन्तराज तूपकर, सोलापुर

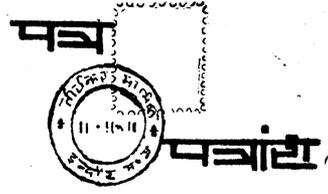
इससे जैनों की आँखें खुलेंगी

सितम्बर के आश्चर्यजनक ‘संपादकीय’ के लिए हार्दिक बधाई। इससे जैनों की आँखें अवश्य खुलेंगी।—सुनील जैन, बंगलोर

फिर तो देह-व्यापार भी नैतिक

सितम्बर का ‘संपादकीय’ अंक पाते ही पढ़ा। बेहद आश्चर्य और घृणा हुई कि हम लोभ के इतने वशीभूत हो गये हैं कि जिस कौम/धर्म का सर्वसम्मत सिद्धान्त अहिंसा हो उसका एक अनुयायी मुर्गीपालन-केन्द्र चलाये। हो सकता है उनकी कोई आर्थिक विवशता हो तथापि उन्हें यह व्यवसाय नहीं करना था। यदि मांस-विक्रय, अण्डा-विक्रय को उचित मान लिया गया तो हमें ‘देह-व्यापार’ को अनुचित होते हुए भी उचित मान लेना होगा। जब साहूकारी, दुकानदारी, नौकरी आदि में अन्यायपूर्ण/अनैतिक तौर-तरीकों से पैसे कमाना आम हो गया है, तब फिर भला देह-के-व्यापार को अनैतिक क्यों माना जाए? चाहे जो हो हम ऐसे कामों को न्याय-नीति-संगत नहीं कह सकते।

—प्रमचन्द्र जैन ‘प्रेमेन्दु’, बाँसातारखेड़ा



अवास्तविकता की धूल हटी

‘तीर्थकर’ के सितम्बर १९८८ के अंक में ‘साबुदाना : खेत से खलिहान तक’ लेख पढ़ा, ऐसा लगा मानों साबूदाने पर से अवास्तविकता-की-धूल साफ हो गयी हो। वास्तव में हम महासतीजी द्वारा प्रचारित तथ्य को ही पूर्ण सत्य मान कर साबूदाने के उस क्रूरतम रूप से जैन संस्कृति को बचाने के प्रयास में लगे हुए थे; किन्तु आपकी लेखनी से सत्यता का आभास हुआ, फिर भी महासतीजी द्वारा प्रचारित तथ्यों से जहाँ अनेकानेक लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है, वहीं साबूदाना-निर्माता अहिंसक ढंग से साबूदाना बनाने का प्रयास करेंगे।—पंकज बाकलीवाल, ऋदवाड़ा

नयी और सही जानकारी

सितम्बर '८८ के ‘तीर्थकर’ में साबूदाना के निर्माण की आँखों-देखी जानकारी पढ़ कर हम सब बहुत आश्चस्त हुए। साध्वी जी वाला लेख पढ़ने के बाद हमने अपने परिवार में साबूदाने का प्रवेश और उपयोग बन्द कर दिया था। अब जो नयी और सही जानकारी पढ़ने को मिली है, उसके बाद मन की गाँठ खुल गयी है।

—काशिनाथ त्रिवेदी, इन्दौर

भ्रान्ति का पूर्णतः निरसन

सितम्बर/अक्टूबर के अंक मेरे सामने हैं। सितम्बर के अंक में ‘किस्सा-ए-साबूदाना’ प्रकाशित कर आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। इसके

तीर्थकर : नवम्बर ८८/४१

प्रकाशन से समस्त भारतवर्ष में साबूदाने के संबन्ध में फैली एक भ्रान्ति का पूर्णतः निरसन हुआ है। इसी अंक में 'गुरुकुल के गुरुकुल आचार्य समन्तभद्र' लेख भी पठनीय है।

—डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन, उज्जैन

अंक पुस्तक बन गया है

'मेरी भावना' का चित्रांकन सरस लगा। इससे 'तीर्थकर' का यह अंक स्वयं पुस्तक बन गया है। 'अर्वाचीन जैन ज्योतिर्धरों' में साध्वी विचक्षणश्री और स्व. अमरचंदजी नाहटा को भी लिया जा सकता था। शायद लेखक इनकी प्रकाशक/प्रभावक ज्योति से परिचित न हो।

—धनसुख छाजेड़, डहाणू

दुराग्रह के रोग से बचें

मैं 'तीर्थकर' मासिक का नियमित पाठक हूँ। त्रैमासिक 'समय' को देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। 'शाकाहार प्रकोष्ठ' की स्थापना/प्रचार-प्रसार से भी प्रभावित हुआ। 'तीर्थकर' तो 'यथानाम तथागुण' को सार्थक कर रहा है एवं त्रिरत्न उदारता-पूर्वक लुटा रहा है, जो चूक रहे हैं वे अवश्य ही दुराग्रह रोग के रोगी हैं।

—ब्रजबिहारी रहमान, अमरपाटन

पौधा बना वृक्ष

'तीर्थकर'/अक्टूबर ८८ के अंक में श्री जुगलकिशोर मुख्तार की देन 'मेरी भावना' प्रकाशित है। चित्र बहुत सुन्दर हैं—मुख्तारजी की भावनाओं के (उन्मुक्त) चित्रण। वे आज हमारे बीच नहीं हैं; परन्तु उनके द्वारा लगाया गया पौधा आज वृक्ष बन कर साहित्य/शास्त्र-सेवा कर रहा है।

—नरेन्द्रकुमार जैन, देहरादून

वीतरागता की चरम कसौटी :

अनहद की झंकार

अक्टूबर ८८ के 'तीर्थकर' में डॉ. शिव-मुनि की कृति-समीक्षा तो समीचीन है;

परन्तु उनके आगे 'डॉक्टर' शब्द पर आपने जो लिखा कि मुनि-जैसे साधक को डॉक्टर की उपाधि से विभूषित करना कोई अर्थ नहीं रखता। यह वीतरागता की चरम कसौटी है। मुनि हो या गृहस्थ व्यक्तित्व का मूल्यांकन तो सामान्य सदस्य करता ही है। 'डॉक्टर' शब्द से व्यक्ति के अध्ययन, मनन, चिन्तन, और लेखन का परिचय मिलता है, इस दृष्टि से वह आवश्यक भी है। 'मेरी भावना' पर आपके द्वारा प्रस्तुत व्याख्या में अनहद की झंकार सुनायी देती है।

—लक्ष्मीचन्द जैन, छोट्टी कसरावद

सबको चाहिये प्रशंसा; किन्तु सत्य पर—

आपने स्वयं सेलम जा कर साबूदाना के निर्माण की प्रक्रिया को पूर्णतः देखा और 'तीर्थकर' के माध्यम से, जो शंका पैदा हो गयी थी, उसे दूर किया; अतः सराहनीय है। आज प्रशंसा तो सबको चाहिये, 'सत्य क्या है' इस पर कोई न तो सोचता है और न ही उसे ले कर कोई खोजबीन करता है। आपने अपना अमूल्य समय दे कर पाठकों तक जो प्रामाणिक विवरण पहुँचाया है, उसके लिए वे कृतज्ञता का अनुभव करते हैं।

—मानवमुनि, इन्दौर

है कोई ऐसा ग्रंथ ?

अगस्त ८८ का अंक पढ़ा। वैसे तो 'तीर्थकर' की सारी ही सामग्री पठनीय एवं चिन्तनीय रहती है—डॉ. अनिलकुमार जैन का 'णमो लोए सव्व साहणं' वास्तव में मननीय है। शीर्षक का सरल भाषा में गंभीर विश्लेषण कर पाठकों को पुनर्व्याख्या के इंतजार में डाल दिया है। मैं नहीं समझता इसकी कुछ अन्य व्याख्या भी हो सकती है। संकीर्ण विचारों वाले पाठक इस पर मौन ही रहना पसंद करें; परन्तु वास्तविकता तो यही है कि लेखक का विवेचन सामयिक एवं समीचीन है फिर भी आशा

है विद्वान्-चिन्तक इसकी पुनर्व्याख्या कर पाठकों को इन्तज़ारी समाप्त करेगे ।

साथ ही श्री प्रलयंकर का 'विदेश में बज रही है अपनी-अपनी ढफली' अत्यन्त स्पष्ट, रोचक एवं बचारीत्तेजक है, साधारणतया जैन बन्धु विदेशों में मंदिरों की स्थापना एवं साधु-साध्वियों के विदेश गमन में जैनधर्म का व्यापक प्रचार ही समझते हैं परन्तु यह धारणा कितनी गलत या सही है, यह तो समय ही बतायेगा । अपने ही देश में शनैःशनैः एक की अनेक आम्नाएँ व सम्प्रदाएँ बन गयी हैं । एकता की बातें भी अन्तस्तल से न हो कर बाह्य लोक-लज्जा से डर के कारण होती हैं । अन्य धर्मावलम्बी जिस प्रकार हमें गीता, कुरान, बाइबिल एवं गुरु ग्रन्थ साहब उपलब्ध करा देते हैं, उसी प्रकार हम 'जैन दर्शन-सार' का कौन-सा एक ग्रन्थ अजैनों को दे सकते हैं ? जहाँ तक त्रिया-काण्ड और दिखाने का प्रश्न है वह भी कम होने के बजाय दिनोंदिन बढ़ ही रहा है । आशा है इनकी प्रलयंकरी अभिव्यक्ति समाज को अवश्य ही रचनात्मक कार्यों में नेतृत्व प्रदान करेगी । दोनों ही विद्वान् लेखकों को हार्दिक बधाई । मः

—ए. आर. जैन, अंकलेश्वर

अंक साक्षी है

इसमें कोई शक नहीं कि 'तीर्थंकर' के अंक भले ही वे लघुकाय हों अधिकारी लेखकों की मौलिक रचनाओं के कारण विशेषांक से कम गौरव-गरिमा नहीं रखते ।

अक्टूबर ८८ का अंक साक्षी है । नेता : बच्चे : हम' आपके संपादकीय में 'नेता' का जो अर्थ किया है, वह बिलकुल सही है । वर्तमान के प्रायः नेताओं की दोहरी हालत देख कर बच्चों की उल्लिखित खूबियों से उन्हें सीख लेने की जो महत्त्वपूर्ण प्रेरणा आपने दी है, यदि वह ग्रहण की जाए तो उन नेताओं की साफ-सुथरी छवि उभर सकती है ।

वास्तव में नैतिक शिक्षा आज अंत-विरोधों के घेराव में फँसी पड़ी है । वह मुक्त हो कर कैसे फूले-फले ? इसका सही समाधान डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन के लेख में पठनीय है ।

यह सच है कि जिनागमों में मर्म के ताले लगे हुए हैं । खोलने की कुंजियाँ भी हैं; किन्तु हम प्रायः उन्हें खोलने में निष्णात नहीं हैं । यही कारण है कि हम स्वाध्यायी हैं, पर लाभान्वित नहीं हैं । जयंती जैन का लेख 'कैसे पढ़ें जिनागम ?' वास्तव में हृदयंगम करने योग्य है ।

रेखाचित्रों से सजी 'मेरी भावना' जिसमें सद्बिचार और सदाचार के मणि-मोती जड़े हैं, चित्र में गहरे उतारने के लिए बिना किसी भेदभाव के व्यष्टि और समष्टि को महती प्रेरणा देती है ।

श्री राजमल जैन के 'कहावतों में जैन और जैनत्व' लेख पर आपकी चेतावनी-भरी टिप्पणी जैनों को सचेत करेगी ।

प्रलयंकरजी की 'तन-चुनौती' (४) एवं ललवानीजी का खत बेशक चिन्तनीय एवं मननीय है । —मूलचन्द पाटनी, बम्बई

लेखक : वाग्जाल से बचें

'तीर्थंकर' का सितम्बर ८८ अंक मिला । इस अंक के अध्ययन के उपरान्त अपने संक्षिप्त विचार प्रेषित कर रहा हूँ ।

(१) 'प्रलयंकर' द्वारा 'मन/चुनौती-३' में मन की प्रकृति का बड़ी गहराई से विवेचन किया गया है । अच्छा लगा ।

(२) 'संपादकीय' में वर्णित विषय ने हमारे कृत्य और संस्कारों में उत्पन्न विसंगति की ओर ध्यान दिलाया है; किन्तु संपादक की निराशा, समाज की अधो-गामिनी प्रवृत्ति में सुधारकों की उदासीनता से मन खिन्न हुआ है ।

(३) डॉ. राजाराम जैन द्वारा प्रस्तुत लेख 'श्रावकाचार : फूके प्राण इसमें एक बार फिर' समयोचित लगा। 'सर्वोदय' शब्द का प्रारंभिक उद्गार आचार्य समन्त-भद्र के द्वारा किया गया था—यह जानकारी आज के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण है। अणु-व्रतों के अतिचार और भारतीय दण्ड-विधान में वर्णित अपराधों में आश्चर्यजनक समानता प्रस्तुत किये जाने से लेख का महत्त्व काफी बढ़ गया है।

(४) संपादकजी के सदप्रयासों से विवादग्रस्त साबूदाना के संबन्ध में 'किस्सा-ए-साबूदाना' लेख में तथ्यपूर्ण अधिकृत जानकारी मिली। ऐसे लेखों से समाज में व्याप्त अन्धविश्वास दूर होगा।

(५) 'गुरुकुलों के गुरुकुल आचार्य समन्तभद्र' एक प्रेरणादायी लेख है। समाज की उल्लेखनीय विभूतियों से परिचित कराने हेतु संपादकजी धन्यवाद के पात्र हैं।

(६) डॉ. आदित्य प्रचंडिया का लेख 'हम झूठे कितने—सच्चे कितने' पढ़ कर मन खिन्न हो गया। धार्मिक-वैज्ञानिक सत्य की समर्थक पत्रिका में सत्य के ऊपर ऐसा लेख अटपटा लगा। बहुत परिश्रमपूर्वक लिखे गये लेख में वाग्जाल की अतिक्रमता से सत्य का प्रतिपादन फीका हो गया। लेख के विषय में निम्नांकित बिन्दु दृष्टव्य है—

(अ) 'भेड़-बकरी आदि से संदर्भित झूठ बोलने वाला मनुष्य पाँच व्यक्तियों की हत्या करता है। गाय के विषय में झूठ बोलने वाला दस व्यक्तियों की, कन्या के विषय में झूठ बोलने वाला सौ मनुष्यों की और पुरुषों के विषय में झूठ बोलने वाला हजार मनुष्यों की हत्या करता है।' (पंच-तन्त्र ३/१०९)।

क्या कोई मननशील व्यक्ति ऐसे असत्य भाषण एवं मनुष्यों की हत्या के समीकरण को विज्ञान-सम्मत मान सकेगा?

कम-से-कम मेरा मन तो यह मानने को तैयार नहीं।

(ब) 'सत्य से ही पृथ्वी स्थिर रहती है, सूर्य तपता है, पवन बहता है।' 'महा-समुद्र के मध्य दिशा में भूले हुए जहाज सत्य के प्रभाव से स्थिर रहते हैं।'

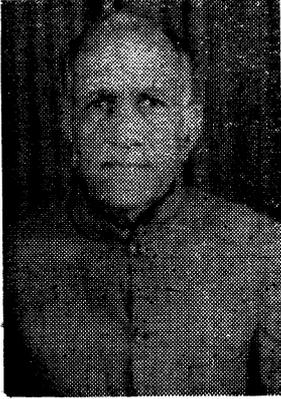
'सत्य के प्रभाव से मनुष्य न जल में बहते हैं, न मरते हैं। न अग्नि में जलते हैं।' इत्यादि।

सत्य के प्रचार-प्रसार के लिए अवैज्ञानिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण उद्धरणों का का ग्रहण करना क्या उचित है? रचनात्मक क्रान्ति के लिए प्रतिबद्ध चिन्तन की इस पत्रिका में युक्तियुक्त चिन्तन ही पाठकों को संतोष प्रदान कर सकता है। ऐसा मेरा मत है।

उपर्युक्त लेख में तारतम्य का अभाव भी खलता है, अथवा—

(स) 'सत्य बोलते समय दो व्यक्तियों की ज़रूरत है—कहने वाले और सुन कर विश्वास करने वाले की। सत्य के बोल उल्टे दीखते हैं। एक बार टैगोर ने कहा था कि बर्तन का पानी चमकदार दिखता है, समुद्र का पानी काला। लघु सत्य में स्पष्ट शब्द होते हैं महान सत्य में महान् मौन निहित रहता है।' सत्य का प्रतिपादन वाग्जाल से बच कर बड़ी सावधानी से चयन किये हुए शब्दों एवं समन्वित वाक्यों द्वारा किया जाना चाहिये, ऐसा मेरा मत है। शास्त्रों और आगमों में अनेक अति-शयोक्ति पूर्ण विवरण भरे पड़े हैं; अतः उद्धरणों का चुनाव करते समय भी सावधानी की आवश्यकता होती है। शास्त्रों और आगमों में जो कुछ भी लिखा है उसे आँख बन्द कर सत्य मानना असत्य का पक्ष दृढ़ करना है। आवश्यकता इस बात की है कि जो कुछ भी पढ़ें, लिखें अथवा कहें उसमें

(शेष पृष्ठ ४७ पर)



आज अहिसक कृषि जरूरी

—**दहाणू** । जैन संघ के उपाध्यक्ष श्री पूनमचंद भाई बाफणा को अहिसक/प्राकृतिक कृषि के लिए महाराष्ट्र सरकार ने 'कृषि विभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया है। संघ की ओर से भी उनका भाव-भीना अभिनन्दन किया गया और जैनाचार्य श्री जनकचन्द्र सूरेश्वरजी ने उन्हें 'कृषक मणि श्रावक' की पदवी प्रदान की। श्री बाफणा की विशेषता यह है कि वे खेती में कीटनाशक दवाओं और रासायनिक खादों का इस्तेमाल नहीं करते। उनकी मान्यता है कि केंचुए पेड़-पौधों के सर्वोत्तम मित्र हैं। उनके निक्षेपण (कास्टिगज़) में १६ ऐसे तत्व और खनिज रहते हैं जो पेड़-पौधों को रोग-प्रतिकार की अपूर्व शक्ति प्रदान करते हैं और उन्हें स्वस्थ बनाते हैं। जैन कृषकों को चाहिये कि वे 'श्री पूनमचंद बाफणा, अध्यक्ष, थाणा जिला कृषक समाज, दहाणू-४०१ ६०१ (महाराष्ट्र)' से संपर्क करें और पूरे देश में अहिसक/प्राकृतिक खेती के प्रवर्तन की पहल करें।

—**बम्बई** । २६, २७ और २८ नवम्बर को कच्छ के खेतोर जिनालय में दसवाँ जैन साहित्य समारोह संपन्न हुआ। समारोह का आयोजन मे. नवनीत प्रकाशन के द्र

बम्बई-अहमदाबाद के आर्थिक सहयोग से, श्री महावीर जैन विद्यालय ने किया था।

—**कोबा** । श्री सत्श्रुत सेवा साधना केन्द्र गत सात वर्षों से 'नूतन वर्षाभिनन्दन' के रूप में ग्रीटिंग कार्ड के बदले सुविचार-प्रचार-प्रसार के लिए पुस्तिका प्रकाशित करता रहा है। इस वर्ष १९८८-८९ के निमित्त उसने 'जीवन प्रकाश पत्रिका' की ४० हजार प्रतियाँ प्रकाशित की हैं। डेढ़ रुपयों में प्राप्त उक्त पुस्तिका श्रीमद् राजचन्द्र आध्यात्मिक साधना केन्द्र, कोबा-३८२००९ (गांधीनगर) से मिल सकती है।

—**जबलपुर** । २२ नवम्बर को पिसन-हारी की मढ़िया में दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी का सत्रहवाँ दीक्षा दिवस महोत्सव संपन्न हुआ। उल्लेखनीय है कि सन् १९७२ में इसी दिन नसीराबाद (राजस्थान) में आचार्य श्री जानसागरजी ने उन्हें दीक्षा प्रदान की थी। इस अवसर पर उन्हें 'चारित्र-चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित करने का प्रयत्न भी किया गया, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

—**नई दिल्ली** । अहिंसा इंटरनेशनल के एक महत्त्वपूर्ण निर्णय के अनुसार संस्था प्रतिवर्ष विकलांगों को एक लाख रुपयों के उपकरण प्रदान करेगी तथा अहिंसा, शान्ति, शाकाहार एवं पशु क्रूरता निवारण के लिए व्यापक स्तर पर काम करेगी।

—**भोपाल** । महावीर ट्रस्ट की संभागीय समिति ने १४ से १९ नवम्बर तक एक स्वास्थ्य परीक्षण शिविर का आयोजन किया, जिसमें घातक/असाध्य रोगों से बचाव के उपाय बताये गये। शिविर में १०० से अधिक जैन-जैनतर चिकित्सकों ने अपनी निःशुल्क सेवाएँ प्रदान कीं।

—जबलपुर । २५ नवम्बर (शरद् पुणिमा) को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने जीवन के ४३ वें वर्ष में पदार्पण किया है। इस पुनीत अवसर पर पिसनहारी की मढ़िया में एक सादा/संक्षिप्त समारोह रखा गया जिसमें उनकी प्रतिनिधि कविताओं के संकलन 'चेतना के गहराव में' को लोकार्पित किया गया।

—रांची । 'अहिंसा संदेश' (पाक्षिक) द्वारा स्थापित शाकाहार पुरस्कार-१९८८ गुड़गाँवा छावनी (हरियाणा) के श्री देवेन्द्रकुमार जैन को प्रदान किया गया है। पुरस्कार के अन्तर्गत रु. १५०१/- नकद तथा एक प्रशस्ति-पत्र दिया जाता है।

—जयपुर । श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा १९८३ में स्थापित पुरस्कार-१९८७ (रु. ५००१/-) मुजफ्फरनगर के डॉ. जयकुमार जैन को उनकी शोध-कृति 'पार्श्वनाथ चरित्र का समीक्षात्मक अध्ययन' पर एक विशेष समारोह में दिया गया।

—दिल्ली । ऋषभदेव फाउंडेशन ने 'महावीर निर्वाण सम्बन्ध पुनर्विचार गोष्ठी' का आयोजन किया। इस संदर्भ में फाउंडेशन ने डॉ. कुँवरलाल जैन और डॉ. चन्द्रकान्त बाली के शोधप्रबन्ध-सार प्रचारित किये हैं।

—लाडनूँ । अखिल भारतीय तेरापन्थ युवक परिषद् का केन्द्रीय कार्यालय 'जैन विश्व भारती' परिसर में सक्रिय हो गया है। अनुरोध किया गया है कि भावी संपर्क एवं पत्राचार अब इसी पते पर किया जाए।

—होम्बुज । ११ अक्टूबर से २० नवम्बर तक श्री होम्बुज अतिशय महाक्षेत्र में नवरत्न और विजयादशमी पर्व मनाये गये। भगवान् पार्श्वनाथ तथा पद्मवती देवी के सम्मुख विशेष पूजाएँ, पारमाधिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ संपन्न हुईं।

—जोधपुर । सेवामंदिर ने प्राकृत भाषा-समूह के एक एकीकृत व्याकरण तैयार करने संबन्धी रायशुमारी के लिए 'जैन ज्ञान योजना' प्रचारित की है।

(पृष्ठ ३६ का शेष)

और मांस के रूपान्तरों की तकनीकें उनकी पहुँच से बाहर हो गयी हैं। मनुष्य पहले जिन बातों को सोच-भी नहीं सकता था, आज उन्हें वह बेहिचक कर रहा है। हमारी संस्थाएँ और पत्र-पत्रिकाएँ उस समिति के निष्कर्षों और उनकी सिफारिशों को हम तक बराबर पहुँचाती रहें। उन्हें पुस्तकाकार अथवा चाटों के रूप में छपवा कर भी उपलब्ध कराया जा सकता है। पत्र-पत्रिकाएँ तो आज भी इस दिशा में बहुत कुछ कर रही हैं। इससे जो शुद्ध शाकाहारी हैं वे तो बचेंगे ही, ऐसे लोग भी जिन्हें मांसाहार से परहेज नहीं है, इन अमानवीय एवं घिनौने तौर-तरीकों की भयंकरता की जानकारी होने पर तथा उनसे होने वाली हानियों का अहसास होने पर उन्हें खाना और उन्हें उपयोग में लाना छोड़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त हर जैन परिवार का हर व्यक्ति जो चार साल और ज्यादा का हो पर्युषण पर्व में शाकाहार की प्रतिज्ञा ले और हर साल दोहराता रहे तथा विवाह के फेरों में एक प्रतिज्ञा शाकाहार की भी अनिवार्य हो। सफर में दो-तीन दिनों तक का आवश्यकतानुसार भोजन घर से ले जाएँ। शाकाहारियों को चाहिये कि वे स्वयं भी खाद्य पदार्थों का पूरी सावधानी और जाँच-पड़ताल के बाद ही उपयोग करें। महिलाएँ इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। वे घर में और चौके में कोई संदिग्ध वस्तु आने ही न दें।

—प्रतापचन्द्र जैन

आजीवन सदस्य

१०६५. श्री बी. के. जैन,
११३/४, स्वरूपनगर,
फ्लैट नं. १२,
कानपुर-२०८ ००१ (उत्तरप्रदेश)
१०६६. श्री रिखबदास भंशाली,
कान्ति क्लॉथ स्टोर्स,
१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता-७०० ००१
१०६७. श्री मोहनलाल भंशाली,
७५, नेताजी सुभाष रोड,
कलकत्ता-७०० ००१
१०६८. श्री विकासकुमार,
द्वारा/विकासकुमार
विजयेन्द्रकुमार,
३२, चाँदनी चौक,
रतलाम-४५७ ००१ (मध्यप्रदेश)
१०६९. श्री मुकुटबिहारी जैन,
जैन क्लॉथ हाउस, चौमुखा पुल,
मुरादाबाद-२४४ ००१
(उत्तरप्रदेश)
१०७०. श्री तपस्वी फकीरचन्द लायब्रेरी
समाधि
चण्डीगढ़ रोड
टोहना-१२६ १२० (हरियाणा)
१०७१. श्री डी. आर. राँका
राँका ब्रदर्स
डुडी मार्केट
वृन्दावन बिल्डिंग
बैंगलोर-५६० ००२ (कर्नाटक)
१०७२. श्री भँवरलाल गोदावत
७, राजा मार्केट
नागरथ पेट
बैंगलोर-५६० ००२ (कर्नाटक)
१०७३. श्री जे. माणकचन्द कोठारी
१३, न्यू नं. ४, किंग स्ट्रीट
रिचमण्ड टाउन
बैंगलोर-५६० ०२५ (कर्नाटक)
१०७४. श्री पारसमल मकना
६/१, सिक्स क्रॉस
कुब्बन पेट
बैंगलोर-५६० ००२ (कर्नाटक)
१०७५. श्री प्रदीप कांसल
प्रदीप कटपीस
कांसल मार्केट
अशोकनगर (गुना) ४७३ ३३१
१०७६. डॉ. शीलचन्द्र जैन
श्री महावीर औषधालय
मुंगावली (गुना) ४७३ ४४३
१०७७. श्री कुंजीलाल कन्ठेदीलाल जैन
पुराना बाजार
मुंगावली (गुना) ४७३ ४४३
१०७८. श्री कमलचन्द समैया
कमल ब्रदर्स
कपडे के व्यापारी
मंडी बामोरा (सागर) ४७० १११

(पृष्ठ ४४ का शेष)

हमें अपने मन में नीरक्षीर विवेक रखना
चाहिये ।

(७) 'समाचार परिशिष्ट' से हमें
बहुत लाभ मिला—

(अ) पुणे के लिए जैन संस्थाओं,
जैन विद्वानों/जैन पत्र-पत्रिकाओं के नाम
भेज सका हूँ ।

(ब) खतौली—राष्ट्रीय आन्दोलन
और जैन विषय पर सामग्री भेज सका हूँ ।

(स) इन्दौर—'अहंत् वचन' नामक
त्रैमासिक शोध पत्रिका को मंगा सकूंगा ।

—गुलाबचन्द जैन, जगदलपुर

तीर्थंकर : नवम्बर ८८/४७

**मनुष्य को रत्नत्रय दीप जलाकर
स्वरूपाचरण मार्ग देखना चाहिये ।**

दीपक अंधेरे में जलता है, जहाँ प्रकाश का अभाव है वहाँ जा पहुँचता है। दीपक के उपादान बहुत सीमित हैं। रूई, तेल और मिट्टी ! परन्तु उसका दान असीमित है, सूर्य के अभाव की पूर्ति करना। मनुष्य क्या दीपक से भी अकिंचन है ?

मनुष्य को दीपवत् ज्योतिर्मय होने का प्रयास करना चाहिये। उषा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, दीपक ज्योतिर्मुख हैं, इनसे दृष्टिसंयोग होने पर आह्लाद मिलता है। मनुष्य को भी ज्योतिर्मुख होना चाहिये। धर्म, संस्कृति, ज्ञान, आत्मरमण—मानुषी ज्योति के अंग हैं।

जिस दीपक में ज्योति होती है वह भगवान् की आरती में पहुँच जाता है; किन्तु ज्योतिहीन दीपक कहीं फेंक दिया जाता है। मूल्य ज्योति का है। शरीर में आत्मज्योति छिपी है, उसे जगाओ।

—प. पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी

हम भारत रेडिएटर्स में यथाशक्ति, यथाकाल इस मार्गदर्शन को आचरण में लाने के लिए प्रयत्नशील हैं

भारत रेडिएटर्स लिमिटेड

—: प्रधान कार्यालय :-

८१, बजाज भवन, नरीमन पॉइंट, बम्बई ४०० ०२१

दूरध्वनि : २०२००८५, २०२१४९७

—: फ़ैक्टरी :-

विद्यानगरी मार्ग, कालिना सांताक्रुस (पूर्व), बम्बई ४०० ०९८

दूरभाष : ६१२२९६५, ६१२३४५७

खड़ा होता है कि धन स्थूलताओं को तो खरीद सकता है, किन्तु भाववाची सूक्ष्मताओं को खरीदने में असमर्थ है।

एक मित्र प्रश्न कर बैठे कि कृपया बतायें कि ऐसी कौन-सी स्थितियाँ और वस्तुएँ हैं जिन्हें धन के द्वारा पाया या खरीदा नहीं जा सकता ?

मैंने कहा—'भाई ऐसी स्थितियों और वस्तुओं की फेहरिस्त काफी लम्बी हो सकती है जहाँ धन को निर्धन होना पड़ता है और उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग पड़ती है। इन स्थितियों में वह अपने स्वामी के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है यह कहते हुए कि 'मैं और सब कर सकता हूँ, इतना-भर नहीं कर सकता।

देखिये न : यदि कोई बीमार है तो आप औषधियाँ-भर खरीद सकते हैं, किन्तु स्वास्थ्य, या, सेहत नहीं खरीद सकते। यदि स्वास्थ्य खरीद पायें तो फिर दवाइयाँ क्यों खरीदें ?

जब किसी संपन्न व्यक्ति का पेट टें बोल जाता है और उसकी भूख मर जाती है तब आप उसके सामने पकवानों का ढेर तो खड़ा कर सकते हैं; किन्तु उसे रूचि और भूख खरीद कर नहीं दे सकते। इस तरह की खरीदियाँ धन की परिधि के बाहर हैं। जब कोई आदमी अन्तिम सँसँ गिन रहा हो और उसके पास विशेषज्ञ डॉक्टरों का ठठ-का-ठठ खड़ा हो, तब क्या उस मरणोन्मुख व्यक्ति के लिए उम्र का एक पल भी खरीद कर आप उसे दे सकते हैं ? असंभव; फिर भी आप कहते हैं कि धन सर्वोपरि है और उसके बिना काम नहीं चल सकता।

धन-द्वारा आप एक सुसमृद्ध पुस्तकालय खड़ा कर सकते हैं; पण्डितों की एक फौज उपस्थित कर सकते हैं; किन्तु ज्ञान-बोध शायद आप नहीं खरीद सकते। साधन की खरीदी संभव है; किन्तु सिद्धि खरीदना असंभव है। नौकर रखना संभव है; किन्तु आत्मीयता, समर्पणशीलता, और सेवा खरीदना मुश्किल है। स्थूलताओं और भौतिक समृद्धियों तक तो धन की भुजाएँ पहुँच सकती हैं; किन्तु वह अपने घेरे में भाववाचकताओं/सूक्ष्मताओं को नहीं समेट सकता। ये सारी स्थितियाँ उसकी सीमा/सामर्थ्य से बाहर जा पड़ती हैं।

यह चुनौती कि धन सब कुछ कर सकता है, बेमानी है। धन तो धन संसार की ऐसी कोई हस्ती नहीं है जो किसी वस्तु या स्थिति को टस-से-मस कर सके। इस लोक में वस्तु-स्वातन्त्र्य की असीम व्याप्ति है। यहाँ सब स्वाधीन हैं। पराधीन कोई 'सत्' नहीं है। सबकी अपनी-अपनी सत्ताएँ हैं। कोई किसी पर अवलम्बित नहीं है। हम सोचते हैं कि फलाँ व्यक्ति या स्थिति हम पर निर्भर है; किन्तु असल में यह हमारा भ्रम है, सचाई नहीं है। सचाई सिर्फ यह है कि विश्व के जितने 'सत्' हैं/अस्तित्व हैं वे पूरी तरह स्वतन्त्र हैं; कोई किसी पर निर्भर नहीं है।

यदि हम विश्व-के-इस-मर्म-को भलीभाँति समझ लें तो धन की सीमाएँ खुद-ब-खुद स्पष्ट होने लगेंगी और वह गरीब होने लगेगा।

—प्रलयंकर

गहराई ज्यों-की-त्यों

- मनस्वियों के समूहों का धन नष्ट होता है, पुरुषार्थ नहीं; अंग क्षीण होते हैं, प्रताप नहीं; रूप चला जाता है, परन्तु उत्साह स्वप्न में भी अस्त नहीं होता।
- यदि हंस श्मशान में रहे और कौआ कमल-वन में, तो भी हंस हंस ही है और कौआ कौआ।
- यदि क्षुद्र नदी वर्षा में नवीन मेघों के कारण उमड़ कर बहने लगे और विस्तृत हो जाए तो भी क्या राजहंस उसका सेवन करते हैं ?
- दोनों ही पंखों वाले हैं, दोनों ही शुभ्र हैं और दोनों ही सरोवर में निवास करते हैं, फिर भी हंसों और बगुलों में बड़ा अन्तर जाना जा सकता है।
- चन्द्रमा का क्षय होता है, तारों का नहीं; ऋद्धि भी उसी की होती है, उनकी नहीं। चढ़ाव-उतार श्रेष्ठ जनों का ही होता है, अन्य क्षुद्र लोग तो सदैव पतनावस्था में ही रहते हैं।
- जिसमें जयश्री निवास करती है, उसकी रक्षा बड़े आदर से करो। चन्द्र के अस्त हो जाने पर तारों से चाँदनी नहीं होती है।
- अटारियों और ऊँचे प्राचीर-शिखरों से नगर नहीं होता; जहाँ गुणीजन निवास करते हैं, वह गाँव भी नगर बन जाता है।
- विद्वज्जन विपुल वैभव द्वारा ऊपर उठने पर भी, संकट आ पड़ने पर भी, आतुर चित्त होने पर भी, और स्वप्न में अवस्थित रहने पर भी अपना उत्साह शिथिल या कम नहीं होने देते।
- दोष ही ग्रहण मत करो, गुण कम होने पर भी व्यक्ति की प्रशंसा करो। समुद्र में यद्यपि अक्ष (कौड़ी, नमक आदि) की ही प्रचुरता है, तथापि संसार में वह 'रत्नाकर' कहलाता है।
- लक्ष्मी के अभाव में भी समुद्र की गहराई ज्यों-की-त्यों बनी रही, किन्तु समुद्र के बिना वह लक्ष्मी; कहो, किस-किस के घर नहीं गयी ?
- हे समुद्र ! तुम्हारे भीतर अग्नि और जल, अमृत और विष, विष्णु और दानव—ये सारे एक साथ रहते हैं; वास्तव में तुम्हारी महिमा बहुत बड़ी है।